मेरे गुरुदेव

स्वामी विवेकानन्द

(एकावन संस्करण)

रामकृष्ण मठ
नागपुर

मेरे गुरुदेव

(स्वामी विवेकानन्दजी द्वारा न्यू यार्क में दिया हुआ भाषण)

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

"जब जब धर्म का ह्रास होता है तथा अधर्म की बढ़ती होती है, तब तब मनुष्यजाति के उद्धार के निमित्त मैं अवतार लेता हूँ।"*

जब कभी हमारे इस संसार में क्रमागत परिवर्तन तथा भिन्न भिन्न परिस्थितियों के कारण नये नये सामाजिक शक्ति-सामंजस्य की आवश्यकता होती है, उस समय एक शक्तितरंग आती है और मनुष्य के आध्यात्मिक तथा भौतिक क्षेत्रों में विचरण करने के कारण इन दोनों क्षेत्रों में ही इस तरंग का प्रभाव पड़ता है। एक ओर भौतिक क्षेत्र में आधुनिक समय में प्रधानतः यूरोप ने ही सामंजस्य स्थापित किया है और दूसरी ओर आध्यात्मिक क्षेत्र में सारे संसार के इतिहास में एशिया ही समन्वय का मुख्य आधार रहा है।

आज आध्यात्मिक क्षेत्र में समन्वय की पुनः आवश्यकता है—आज, जब कि जड़वाद अपनी शक्ति तथा कीर्ति के शिखर पर है तथा जब यह सम्भव हो रहा है कि मनुष्य जड़ वस्तुओं पर अधिकाधिक

---

* यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
—गीता, ४।७

अवलम्बित रहने से अपनी दैवी प्रकृति भूलकर केवल धनोपार्जन का एक यन्त्र मात्र ही न बन जाये, समन्वय की बड़ी आवश्यकता है। ऐसे अवसर के लिए ईश्वर-वाणी हो चुकी है और ऐसी दैवी शक्ति का आगमन हो रहा है जो बढ़ते हुए जड़वादरूपी मेघों को तितरबितर कर देगी। इस शक्ति के खेल का आरम्भ हो चुका है और यह शक्ति ही मानवजाति में उसकी वास्तविक प्रकृति की स्मृति का संचार कर देगी; और वह स्थान, जहाँ जहाँ यह शक्ति सर्व दिशाओं में प्रसारित होगी, फिर एशिया ही होगी।

हमारा यह संसार श्रमविभाग की प्रणाली पर अवलम्बित है। यह कहना व्यर्थ है कि एक ही मनुष्य प्रत्येक वस्तु का अधिकारी होगा, परन्तु फिर भी एक बच्चे के समान हम कैसे अनजान हैं! अज्ञानवश एक बच्चा यही सोचता है कि समस्त संसार में वांछनीय वस्तु केवल उसकी गुड़िया ही है। इसी प्रकार एक जाति जो भौतिक शक्ति में श्रेष्ठ है, सोचती है कि इस संसार में यदि कोई वस्तु अमूल्य एवं प्राप्त करने योग्य है तो वह भौतिक शक्ति ही है तथा उन्नति एवं सभ्यता का अर्थ इसके अतिरिक्त दूसरा है ही नहीं, और यदि कुछ जातियाँ ऐसी हैं जो इसकी परवाह नहीं करतीं तथा जिनके पास यह शक्ति नहीं है तो वे टिकने योग्य नहीं हैं—उनका सारा अस्तित्व ही सर्वथा निरर्थक है। परन्तु दूसरी ओर एक जाति के विचार ये भी हो सकते हैं कि केवल जड़-सभ्यता ही नितान्त निरर्थक है, और ऐसी वाणी प्राच्य देश से ही उठी जिसने एक समय सारे संसार को यह बतला दिया कि किसी मनुष्य के पास यदि संसार कि सारी सम्पत्ति है, परन्तु आध्यात्मिक शक्ति नहीं, तो वह सब किस काम का? यही भाव प्राच्य का है और इसके विरुद्ध दूसरा पाश्चात्य का।

ये दोनों ही भाव महत्वपूर्ण तथा गौरवयुक्त हैं। वर्तमान समन्वय इन दोनों आदर्शों का सामंजस्य तथा मिश्रण स्वरूप होगा। पाश्चात्य के लिए इन्द्रियग्राह्य जगत् जितना सत्य है, उतना ही प्राच्य के लिए आध्यात्मिक जगत् है। आध्यात्मिक राज्य में प्राच्य जो कुछ चाहता है या जिसकी वह आशा करता है तथा जो कुछ जीवन को सत्य बनाता है—यह सब उसे इसमें मिल जाता है। पाश्चात्य को प्राच्य स्वप्नसृष्टि में ही विचरण करनेवाला दिखता है तथा प्राच्य भी पाश्चात्य को वैसा ही देखता है और सोचता है कि यह तो केवल नाशवान खिलौने से ही खेल रहा है और यह विचार कर हंसता है कि बड़े बूढ़े पुरुष तथा स्त्रियां एक मुट्ठीभर ऐहिक वस्तु के सम्बन्ध में, जिसको कि आगे-पीछे उन्हें छोड़ना ही पड़ेगा, कितना तिल का ताड़ करते हैं। तात्पर्य यह है कि दोनों एक दूसरे को स्वप्नसृष्टि में विचरण करनेवाले समझते हैं। परन्तु प्राच्य आदर्श मानवजाति की उन्नति के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि पाश्चात्य आदर्श—और मैं सोचता हूं कि शायद अधिक ही। मशीनों ने मनुष्य जाति को कभी सुखी नहीं बनाया और न बना सकेंगी। जो हमें इस बात का विश्वास दिलाने का यत्न कर रहा है, वह यही कहेगा कि सुख मशीनों में ही है, परन्तु है यह सदा मन में ही। केवल वही मनुष्य जो अपने मन का स्वामी है, सुखी हो सकता है—दूसरा नहीं। और आखिर यह मशीन की शक्ति है ही क्या? यदि कोई मनुष्य बिजली के तार द्वारा विद्युत्-प्रवाह (Electric Current) भेज सकता है तो उसे हम एक बड़ा तथा बुद्धिमान मनुष्य क्यों कहें? क्या प्रकृति उससे कई लाख गुना कार्य प्रत्येक क्षण नहीं करती है? अतः हम

प्रकृति के ही चरणों पर गिरकर उसकी ही पूजा क्यों न करें ? यदि तुम्हारी शक्ति समस्त विश्व भर में फैल गयी तथा यदि तुमने विश्व के प्रत्येक परमाणु को वश में कर भी लिया तो क्या हुआ ? इससे तो तुम सुखी नहीं हो सकते। तुम सुखी तभी हो सकते हो जब तुम स्वयं को जीत लोगे। यह सत्य है कि मनुष्य का जन्म प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए ही हुआ है, परन्तु प्रकृति शब्द से पाश्चात्य जाति केवल भौतिक अथवा बाह्य प्रकृति ही समझती है। यह सत्य है कि पहाड़ों, समुद्रों, नदियों तथा अपनी नाना प्रकार की अनन्त शक्तियों द्वारा समन्वित यह बाह्य प्रकृति अत्यन्त महान् है, परन्तु फिर भी मनुष्य की अन्तःप्रकृति इससे भी महत्तर है—यह सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रादि से भी उच्च है, हमारी इस पृथ्वी से—समग्र जड़-जगत् से भी श्रेष्ठ है और हमारे इन छोटे-छोटे जीवनों से भी अतीत है तथा यह हमारी गवेषणा के लिए एक विशिष्ट क्षेत्र है। जिस तरह पाश्चात्य जाति ने बहिर्जगत् की गवेषणा में श्रेष्ठत्व लाभ किया है, उसी तरह प्राच्य जाति ने अन्तर्जगत् की गवेषणा में। अतः यह ठीक है कि जब कभी आध्यात्मिक सामंजस्य की आवश्यकता होती है तो उसका आरम्भ प्राच्य से ही होता है। साथ ही साथ यह भी ठीक है की जब कभी प्राच्य को मशीन बनाने के सम्बन्ध में सीखना हो तो वह पाश्चात्य के पास ही बैठकर उससे सीखे। परन्तु यदि पाश्चात्य ईश्वर, आत्मा तथा विश्व के रहस्य सम्बन्धी बातों को जानना चाहे तो उसे प्राच्य के चरणों के समीप ही आना चाहिए।

मैं आपके सम्मुख एक ऐसे महापुरुष के जीवन का वर्णन करूँगा जिन्होंने भारतवर्ष में इन गहन विषयों की एक तरंग प्रवाहित कर दी। परन्तु इनका जीवन-चरित्र वर्णन करने के पूर्व

मैं यह बतलाने का यत्न करूँगा कि भारत का वैशिष्ट्य क्या है तथा 'भारत' बोलने से हम क्या समझते हैं। ऐसे व्यक्ति, जिनकी आँखें नश्वर वस्तुओं की ऊपरी तड़क-भड़क से चौंधिया गयी हैं, जिनका सारा जीवन खाने-पीने तथा चैन करने के निमित्त ही समर्पण हो चुका है, जिनकी सम्पत्ति का आदर्श केवल भू-प्रदेश तथा सुवर्ण ही है, जिनके सुख का आदर्श केवल इन्द्रियजन्य सुख ही है, जिनका ईश्वर केवल धन ही है, जिनके जीवन का ध्येय ऐश व आराम करना तथा मर जाना ही है, जिनकी बुद्धि दूरदर्शी नहीं है, जो इन्द्रियभोग्य विषयों के बीच में हमेशा पड़े रहते हैं तथा जो इनसे उच्चतर बातें सोच ही नहीं सकते हैं, यदि भारतवर्ष में जायें तो उन्हें वहाँ क्या दिखायी देगा?—प्रत्येक स्थान पर निर्धनता, असभ्यता, अन्धविश्वास, अज्ञान एवं बीभत्सता ही। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि उनकी समझ में सभ्यता का अर्थ है वेष-भूषा, शिक्षण तथा सामाजिक शिष्टाचार। पाश्चात्य जाति ने अपनी ऐहिक उन्नति के लिए सब प्रकार से यत्न किया है, परन्तु भारतवर्ष ने वैसा नहीं किया। यदि हम मनुष्यजाति के सारे इतिहास को देखें तो हम पायेंगे कि सारे संसार भर में केवल भारत में ही ऐसी जाति है जो अपने देश की सीमा के बाहर कभी किसी दूसरे देश को परास्त करने के लिए नहीं गयी, जिसने दूसरे की सम्पत्ति को कभी प्राप्त करने की इच्छा नहीं की। और यदि कहा जाय तो केवल उसका 'अपराध' यही था कि उसकी भूमि बड़ी उपजाऊ थी और उसने अपने हाथों कड़ी मेहनत करके धन इकट्ठा किया और इस प्रकार दूसरे राष्ट्रों को यह प्रलोभन दिया कि वे आकर उसके यहाँ लूट-मार करें। परन्तु फिर भी वह लुट जाने पर तथा 'जंगली' कही जाने पर भी सन्तुष्ट है और उसके बदले में

संसार में ईश्वरविषयक ज्ञान का प्रचार करना चाहती है, मानव-प्रकृति के गुह्य रहस्य को संसार के सम्मुख स्पष्ट रूप से प्रकट करना चाहती है तथा उस पर्दे को हटा देना चाहती है जो मनुष्य के असली स्वरूप को छिपाये हैं। वह जानती है कि यह सब स्वप्न है—वह जानती है कि इस जड़ के पीछे मनुष्य का प्रकृत ब्रह्मभाव विराजमान है जिसे न तो कोई पाप पतित कर सकता है, न काम कलंकित कर सकता है, न आग जला सकती है और न जल गीला ही कर सकता है, जो आँच से सूख नहीं सकती और न जिसे काल अपने गाल में ही डाल सकता है। उसके लिए मनुष्य का यह असली स्वरूप उतना ही वास्तविक है जितना किसी पाश्चात्य जाति के लिए इन्द्रियगम्य जड़ पदार्थ। जिस प्रकार तुम शूरता से एक तोप के मुँह के सामने उड़ जाने के लिए कूद पड़ते हो तथा जैसे देशभक्ति से प्रेरित हो उत्साह के साथ अपने देश के लिए प्राण भी दे देते हो, उसी प्रकार भारतवासी ईश्वर के नाम पर अपना सर्वस्व अर्पण करने में शूर होते हैं। यह बात उसी देश में है कि यदि कोई पुरुष किसी को यह सुझा देता है कि यह संसार कल्पना मात्र है, केवल स्वप्नवत् है तो वह मनुष्य अपनी वेश-भूषा, धन-सम्पत्ति आदि सब का त्याग कर यह दर्शा देता है कि जो कुछ वह विश्वास करता है तथा मन से सोचता है, वह सब सत्य है। यह बात वहाँ ही है कि जब मनुष्य को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि यह जीवन अनन्त है तो वह एक नदी के किनारे आकर बैठ जाता है और अपने शरीर को कुछ भी न समझकर उसका त्याग इस प्रकार से कर देना चाहता है जैसे हम घास-फूस का तिनका छोड़ देते हैं। इसी में उनका शूरत्व है कि

वे मृत्यु का स्वागत एक भाई के समान करते हैं, क्योंकि उनका यह दृढ़ विश्वास है कि मृत्यु वास्तव में उनके लिए नहीं है। इसी में वह शक्ति है जिसने इन्हें सैकड़ों वर्षों के विदेशियों के आक्रमण तथा अत्याचारों से भी अटल रखा। वह राष्ट्र आज भी है, और उस राष्ट्र में घोर आपत्ति के दिनों में भी आत्मज्ञानी महापुरुषों का अवतार लेना कभी बन्द नहीं हुआ। जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में बड़े बड़े राजनीतिज्ञों तथा वैज्ञानिकों का जन्म होता है, उसी प्रकार एशिया में महान् आत्मज्ञानी पुरुष जन्म लेते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जब कि पाश्चात्यों का प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ने लगा था और जब विजयी पाश्चात्य अपने हाथों में तलवार लेकर यहाँ के ऋषिपुत्रों को यह प्रमाणित करने आये थे कि वे केवल जंगली थे, उनकी जाति खोखले ध्येयवालों की थी, उनका धर्म केवल काल्पनिक था तथा ईश्वर, आत्मा और प्रत्येक ऐसी वस्तु जिसको प्राप्त करने के लिए वे वर्षों से रगड़ रहे थे, केवल अर्थशून्य शब्द ही थे तथा उनका हजारों वर्षों का सर्वसंग-परित्याग व्यर्थ ही हुआ तब तो विश्वविद्यालयों के तरुण छात्रों के मन में यह संकल्प-विकल्प होने लगा कि कहीं उनका उस समय तक सारा राष्ट्रीय प्रयत्न व्यर्थ ही तो नहीं गया, क्या उन्हें फिर पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर नये सिरे से यत्न करना चाहिए, अपने पुराने ग्रन्थों को फाड़ डालना चाहिए, प्राचीन तत्त्वज्ञान को जला डालना चाहिए, अपने धर्मगुरुओं को मारकर भगा देना चाहिए तथा क्या अपने मन्दिरों को ढा देना चाहिए? क्या पाश्चात्य विजयी ने, जिसने अपने धर्म का प्रचार तलवार तथा बन्दूक की सहायता से किया, तुम्हें यह नहीं सिखाया कि तुम्हारी प्राचीन धर्मपद्धति केवल कुसंस्कार एवं निर्जीव प्रतिमा-पूजन तक ही सीमित है? अतः

जिन बच्चों ने इन नयी शालाओं में शिक्षा-दीक्षा पायी, वे पाश्चात्य पद्धति पर चल निकले और बचपन से ही इसके आदेशों में पक गये और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि प्राचीन पद्धति के सम्बन्ध में उनके मन में तर्क-वितर्क होने लगा। कुसंस्कार को एक ओर हटाने तथा सत्य का अनुसन्धान करने की अपेक्षा उनके लिए बस यही एक महावाक्य सत्य की कसौटी हो गया, " इस सम्बन्ध में पाश्चात्य की क्या राय है ?" धर्मगुरुओं को भगा देना चाहिए, वेदों को जला डालना चाहिए, क्योंकि पाश्चात्यों ने ऐसा कहा है —इस प्रकार की खलबली के भावों से भारतवर्ष में एक ऐसी लहर उठी जिसे हम 'सुधार' के नाम से पुकारते हैं।

यदि तुम एक सच्चे सुधारक होना चाहते हो तो तीन बातों की आवश्यकता है। प्रथम तो यह कि तुम्हारा हृदय अनुभवशील हो। क्या वास्तव में अपने भाईयों के लिए तुम्हारे प्राण छटपटा रहे हैं ? क्या तुम सचमुच में अनुभव करते हो कि संसार में इतना क्लेश, इतना अज्ञान तथा इतना कुसंस्कार है ? क्या सचमुच यह तुम्हारी धारणा है कि सब मनुष्य तुम्हारे भाई हैं ? क्या यह भावना तुम्हारे रोम रोम में व्याप्त है ? क्या यह तुम्हारे रक्त से मिल गयी है ? क्या यह तुम्हारी प्रत्येक नस में फड़कती है और क्या तुम्हारे शरीर की प्रत्येक शिरा तथा तन्तु में इसकी झंकार है ? क्या तुम सहानुभूति के विचारों से भरे हुए हो ? यदि तुम ऐसे हो तो जान लो कि तुमने केवल प्रथम सीढ़ी पर ही पदार्पण किया है। दूसरी बात तुम्हें यह सोचनी चाहिए कि इन सब के लिए क्या तुमने कोई उपाय भी ढूंढ़ निकाला है, या नहीं। पुराने विचार कुसंस्कार पर भले ही निर्भर हों, परन्तु इस कुसंस्कार में भी स्वर्णमय सत्य के कण

विद्यमान हैं। सब अनावश्यक बातों को छोड़कर केवल उस स्वर्णरूपी सत्य को पाने के लिए तुमने कोई उपाय सोचा है ? और यदि तुमने वैसा कर लिया है तो जान लो कि तुमने दूसरी सीढ़ी पर पैर रखा है। और एक चीज की आवश्यकता है—अटल अध्यवसाय। तुम्हारा असल अभिप्राय क्या है ? क्या तुम्हें इस बात पर पूरा विश्वास है कि तुम्हें सम्पत्ति का प्रलोभन नहीं है, कीर्ति की लालसा नहीं है तथा अधिकार की आकांक्षा नहीं है ? वास्तव में तुम्हें क्या विश्वास है कि चाहे सारा संसार भी तुम्हें नीचे गिराने की चेष्टा करे तो भी तुम अपने ध्येय के अनुसार ही कार्य करोगे ? क्या तुम्हें यह विश्वास है कि जो कुछ तुम चाहते हो उसे भलीभाँति जानते हो और चाहे तुम्हारे प्राणों पर भी बाजी लगी हो तो भी तुम केवल अपना कर्तव्य ही करते रहोगे ? क्या तुम्हें अन्तःकरण से विश्वास है कि तुम्हारे जीवन के अन्तिम क्षण तक, जब तक तुम्हारे हृदय में धड़कन है तब तक तुम अपने उद्योग में निरन्तर भिड़े रहोगे ? यदि ये तीनों गुण तुममें हैं तो वास्तव में तुम एक सच्चे सुधारक, मार्गप्रदर्शक, गुरु एवं मनुष्यजाति के लिए वरदानस्वरूप हो। परन्तु मनुष्य कैसा उतावला तथा अदूरदर्शी है ! वह थोड़ा भी धीरज नहीं रखता, उसमें प्रकृत दर्शन की शक्ति नहीं है—वह फल को तुरन्त ही देखना चाहता है, वास्तव में दूसरे पर सत्ता जमाना ही उसका अभिप्राय है। इसका कारण क्या है ? कारण यह है कि वह कार्य का फल स्वयं ही लेना चाहता है और यथार्थ में दूसरों की परवाह नहीं करता। केवल कर्म के लिए ही वह कार्य करना नहीं चाहता। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

'तुम्हें केवल कर्म करने का ही अधिकार है; कर्मफल में

तुम्हारा कोई अधिकार नहीं।'*

कर्मफल में हम क्यों आसक्त हों? केवल कर्म करना ही हमारा कर्तव्य है। कर्मफल के सम्बन्ध में हम तनिक भी चिन्ता क्यों करें? परन्तु मनुष्य को धैर्य नहीं रहता। वह विचारपूर्वक न सोचकर मनमाना कोई भी काम करने लगता है। संसार के अधिकांश सुधारक इसी श्रेणी में गिने जा सकते हैं।

भारतवर्ष के पूर्वोक्त सुधार की विचारधारा से ऐसा प्रतीत होता था कि मानो जड़वाद की तरंग, जिसने भारतवर्ष पर आक्रमण कर दिया था, इस देश के प्राचीन आर्य ऋषियों की संस्कृति एवं शिक्षा को बहा देगी। परन्तु यह राष्ट्र इसके पहले ऐसी हजारों विप्लवतरंगों की चोट सह चुका था, पर यह तरंग अतीत के तरंगों की अपेक्षा हलकी ही थी। एक लहर के बाद दूसरी लहर ने आकर देश को अपने में डुबा लिया था और सैकड़ों वर्षों तक ये लहरें देश को दबाती रही थीं। तलवारें चमकी थीं और 'अल्लाहो अकबर' के नारे से भारतवर्ष का आकाश गूँज उठा था। परन्तु धीरे-धीरे ये लहरें शान्त हो गयीं और राष्ट्रीय ध्येय पूर्ववत् बने रहे।

भारतीय राष्ट्र कभी नष्ट नहीं हो सकता। यह अमर है और उस समय तक टिका रहेगा जब तक इनका धर्मभाव अक्षुण्ण बना रहेगा, जब तक इस राष्ट्र के लोग अपने धर्म को त्याग नहीं देंगे। चाहे वे भिखारी रहें अथवा निर्धन, चाहे दारिद्र्यपीड़ित हों अथवा मैले और घिनौने हों, परन्तु वे अपने ईश्वर का परित्याग कभी न करें और न यह भूलें कि वे

---

* कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
—गीता, २।४७

ऋषिसन्तान हैं। जिस प्रकार पाश्चात्य में कोई भी साधारण मनुष्य अपना वंश किसी मध्यकालीन डाकुओं के सरदार 'बैरन' से ढूंढ़ निकालने का यत्न करता है, उसी प्रकार भारतवर्ष में एक सिंहासनस्थ सम्राट् भी अपने को किसी एक अरण्यनिवासी वल्कल-वस्त्रधारी, जंगल के फलमूल खानेवाले तथा ईश्वरस्वरूप में लीन ऋषि का वंशधर प्रमाणित करने की चेष्टा करता है। हम ऐसे ही व्यक्तियों के वंशधर रूप में परिचित होना चाहते हैं और जब तक पवित्रता के ऊपर हमारी इस प्रकार गम्भीर श्रद्धा रहेगी तब तक भारत का विनाश नहीं है।

शायद तुममें से बहुतों ने 'नाइन्टीन्थ सेंचुरी' नामक पत्र के अभी हाल के एक अंक में प्रोफेसर मैक्समूलर * का लेख पढ़ा होगा जिसका शीर्षक था 'एक सच्चा महात्मा'। श्रीरामकृष्ण का जीवन मनोरंजक है, क्योंकि उनका जीवन उनके द्वारा प्रचार किये हुए उपदेशों का एक जीता-जागता नमूना है। शायद यह तुम लोगों के लिए, जो पश्चिम में एक ऐसे वातावरण में रहते हो जो भारतवर्ष से बिलकुल भिन्न है, किसी अंश तक नया प्रतीत होता हो। तुम्हारे यहाँ अर्थात् पाश्चात्य जीवन का रहन-सहन भारतवर्ष के रहन-सहन से नितान्त भिन्न है। परन्तु फिर भी शायद यह विशेष मनोरंजक हो, क्योंकि इनमें बहुतसी ऐसी बातें नये दृष्टिकोण से देखी जायेंगी जिनके विषय में तुम कुछ न कुछ पहले ही सुन चुके होगे।

जब भारतवर्ष में बहुतसे नये सुधारों की चेष्टा हो रही

---

* एक बड़े जर्मन तत्त्ववेत्ता तथा संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित। इन्होंने प्राच्य संस्कृति का भी विशेष अध्ययन किया था।

थी उसी समय १८ फरवरी सन् १८३६ को एक निर्धन ब्राह्मण-दम्पति के घर बंगाल के एक सुदूर गाँव में एक बालक पैदा हुआ। बालक के माँ-बाप दोनों ही शास्त्रमार्गावलम्बी एवं धर्मपरायण थे। वास्तव में पुरानी रीति के अनुसार चलनेवाले धर्मपरायण ब्राह्मण का जीवन नित्य त्याग का तथा तपस्यामय होता है। वह जीविकोपार्जन के लिए इनेगिने उद्योग ही कर सकता है और इसके अतिरिक्त वह किसी लौकिक धन्धे से सम्बन्ध तक नहीं रख सकता। साथ ही साथ वह प्रत्येक का दिया हुआ दान भी ग्रहण नहीं कर सकता। तुम अनुमान कर सकते हो कि इस प्रकार का जीवन कितना कठोर है! तुमने ब्राह्मणों तथा उनके पौराहित्य-सम्बन्धी कर्मों के बारे में बहुधा सुना ही होगा, परन्तु तुममें से बहुत कम लोगों ने यह सोचा होगा कि ऐसा क्या कारण है जिससे ये थोड़ेसे विलक्षण पुरुष अन्य मनुष्यों पर शासन कर सकते हैं। देश के अन्य सब वर्गों की अपेक्षा ये निर्धन होते हैं, परन्तु उनकी शक्ति का रहस्य उनके त्याग में ही छिपा हुआ है। वे कभी सम्पत्ति-संचय की इच्छा नहीं करते। संसार भर में वे सब से अधिक निर्धन पुरोहित हैं और इसीलिए सब से अधिक शक्तिशाली। इतनी निर्धनता में भी एक ब्राह्मण की स्त्री किसी गरीब आदमी को बिना कुछ खिलाये अपने गाँव से कभी नहीं जाने देगी। भारतवर्ष में माता का यही सब से बड़ा कर्तव्य है कि वह स्वयं सब के अन्त में भोजन करे। और वह सदा यह भी ध्यान रखती है कि अन्य सब लोगों के भोजन से परितृप्त होने के बाद स्वयं भोजन करे। यही कारण है कि भारतवर्ष में माता देवीस्वरूप मानी जाती है। जिन देवी का हम वर्णन करेंगे, वे ठीक इसी प्रकार की एक आदर्श हिन्दू माता थीं।

भारत में जो जाति जितनी उच्च होती है उसके उतने ही अधिक बन्धन भी होते हैं। नीच जाति के लोग जो कुछ चाहें खा-पी सकते हैं, परन्तु समाज में तदपेक्षा जो उच्चतर जातियाँ हैं, उनके आहार-व्यवहारादि के नियम भी कठोरतर हैं और उच्चतम जाति, भारत की वंशानुक्रमिक पुरोहित जाति ब्राह्मण के जीवन में—जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ—सब से अधिक कठोर नियम हैं। पाश्चात्य रहन-सहन की तुलना में इन ब्राह्मणों का जीवन सतत तपस्यामय होता है। इनमें खूब दृढ़ता है। जब ये किसी एक भाव को ग्रहण कर लेते हैं तो बिना उसकी चरम सीमा तक पहुँचे उसे नहीं छोड़ते और पीढ़ी दर पीढ़ी यही भाव कार्यरूप में परिणत होते रहता है। यदि कोई भाव ये अपने मन में बिठा लेते हैं तो फिर उनका परिवर्तन करना सरल नहीं होता, परन्तु इनसे कोई नया भाव ग्रहण करा लेना बड़ा कठिन है।

अतएव पुराणमताभिमानी हिन्दू बड़े संकीर्ण होते हैं और अपने संकीर्ण विचार एवं भाव की परिधि में ही विचरण करते रहते हैं। जीवनयापन के सम्बन्ध में उनके प्राचीन ग्रन्थों में अत्यन्त विस्तारपूर्वक लिखा गया है और वे इन सब विधि-निषेधों की छोटी से छोटी बात तक को भी कट्टरता के साथ पालन करने का प्रयत्न करते हैं। भूखों प्राण दे देंगे, परन्तु किसी ऐसे मनुष्य के हाथ का बनाया हुआ भोजन नहीं ग्रहण करेंगे जो उनकी जाति का नहीं है। यद्यपि वे इस तरह संकीर्ण हैं तो भी उनमें प्रगाढ़ श्रद्धा एवं आन्तरिकता है। प्रायः पुराणमताभिमानी हिन्दुओं में प्रबल विश्वास एवं धर्मभाव देखा जाता है, क्योंकि उनकी यह दृढ़ धारणा है

कि यह कट्टरता ही सत्य है। सम्भव है हम सब उनसे इस सम्बन्ध में सहमत न हों, परन्तु उनका विश्वास है कि वह ठीक है। हमारे ग्रन्थों में लिखा है कि मनुष्य को सदैव अति उच्च दर्जे का दानशील होना चाहिए। यदि कोई मनुष्य दूसरे आदमी की सहायता करने के लिए तथा उस आदमी की जान बचाने के लिए स्वयं भूखों ही मर जाय तो भी ठीक है और मनुष्य का कर्तव्य भी यही है। एक ब्राह्मण से यह आशा की जाती है कि वह इस ध्येय का पालन अत्यन्त कड़ी रीति से करेगा। जो भारतवर्ष के साहित्य से सुपरिचित हैं, उन्हें इस अपूर्व दान के सम्बन्ध में एक सुन्दर पुरानी कथा याद आ जायगी। महाभारत में दर्शाया है कि एक कुटुम्ब का कुटुम्ब एक भिखारी को अपना अन्तिम भोजन देकर भूखों मर गया। यह अतिशयोक्ति नहीं है, क्योंकि ऐसी बातें अब भी होती रहती हैं। मेरे गुरुदेव के माता-पिता का स्वभाव बहुत-कुछ इसी प्रकार का था। यद्यपि वे बहुत गरीब थे परन्तु फिर भी मेरे गुरुदेव की माता अक्सर किसी गरीब आदमी की सहायता करने के लिए स्वयं दिनभर भूखी रह जाती थीं। उन्हीं माता-पिता के घर में इस बालक ने जन्म लिया और बचपन में ही यह बालक कुछ विलक्षण-सा था। अपने पूर्वजन्म का संस्मरण उसे जन्म से ही था तथा वह इस बात को भलीभाँति जानता था कि इस संसार में उसने किस उद्देश्य से जन्म लिया है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उसने अपनी सर्व शक्ति लगा दी।

जब वह बालक बिलकुल छोटा था, तभी उसके पिता का देहान्त हो गया और वह लड़का फिर पाठशाला भेजा गया। ब्राह्मण के लड़के को पाठशाला अवश्य जाना चाहिए, क्योंकि जातिक्रम के अनुसार उसको केवल पढ़ने-लिखने का ही

कार्य करना चाहिए। भारतवर्ष की प्राचीन शिक्षापद्धति, जो आजकल भी देश में कई जगह प्रचलित है और विशेषतः संन्यासियों के सम्बन्ध की शिक्षापद्धति, आधुनिक शिक्षा से बहुत भिन्न है। विद्यार्थियों को कोई शुल्क नहीं देना पड़ता था, क्योंकि ऐसा सोचा जाता था कि ज्ञान बहुत पवित्र है और किसी मनुष्य को इसे बेचना नहीं चाहिए। शिक्षादान निःशुल्क तथा उदारता-पूर्वक दिया जाना चाहिए। गुरुजन शिष्यों को निःशुल्क भरती करते थे और इतना ही नहीं, बल्कि उनमें से अधिकांश अपने शिष्यों को भोजन और वस्त्र भी देते थे ! इन गुरुजनों की सहायता के लिए रईस घराने विवाह-संस्कार, श्राद्ध-संस्कार आदि कई शुभ अवसरों पर इनको दान-दक्षिणा देते थे। ये गुरुजन कुछ विशेष प्रकार की दानदक्षिणा के सर्वप्रथम अधिकारी समझे जाते थे और वे उसके बदले में अपने छात्रों का पालन-पोषण करते थे। अतः जब कभी कोई विवाह-संस्कार होता है, और विशेषकर रईस घराने में, तो ये गुरुजन आमन्त्रित किये जाते हैं, और वे सम्मिलित होते हैं तथा उस अवसर पर उनमें भिन्न-भिन्न विषयों पर चर्चा होती है। एक बार यह बालक गुरुजनों के सम्मेलन में जा पहुँचा। गुरुजन उस समय तर्कशास्त्र, ज्योतिष आदि भिन्न भिन्न विषयों पर, जो इस बालक की अवस्था के अनुसार अत्यन्त गहन एवं गूढ़ विषय थे, बहस कर रहे थे। जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ, यह बालक बड़ा विलक्षण था और उसने इस विवाद से यह सार निकाला कि इनके कोरे पुस्तक-सम्बन्धी ज्ञान का फल यह वाद-विवाद है। ये सब इतनी बुरी तरह से क्यों लड़ रहे हैं ? यह केवल धन के लिए ही है, क्योंकि जो मनुष्य यहाँ अपनी विद्वत्ता सब से अधिक दिखा सकेगा, वही वस्त्र की सब से

अच्छी जोड़ी पायेगा और यही ध्येय है जिसके लिए ये लड़ रहे हैं। अतः उसने सोचा कि अब मैं पाठशाला बिलकुल नहीं जाऊँगा और सचमुच वह नहीं गया और यही उसके पाठशाला के जीवन का अन्त था। परन्तु इस बालक का एक बड़ा भाई भी था जो बड़ा विद्वान् था। बड़ा भाई इस बालक को अपने साथ पढ़ाने के लिए कलकत्ता ले गया। कुछ समय बाद बालक को यह दृढ़ विश्वास हो गया कि सब प्रकार की लौकिक शिक्षा का ध्येय अधिकाधिक सम्पत्ति संचय करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और उसने इस प्रकार की शिक्षा को छोड़ देने तथा अपने को केवल आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए तन-मन से लगा देने का निश्चय किया। पिता के मर जाने से कुटुम्ब बहुत गरीब हो गया था और इस बालक को अपनी जीविका का प्रबन्ध स्वयं करना पड़ता था। वह कलकत्ते के समीप एक जगह गया और वहाँ एक मन्दिर का पुजारी हो गया।

किसी मन्दिर में पुरोहिती करना एक ब्राह्मण के लिए बड़ा निन्दनीय कर्म होता है। हमारे मन्दिर तुम्हारे गिर्जाघरों के समान नहीं होते। वे सामाजिक उपासना के स्थान नहीं हैं, क्योंकि यदि सच पूछा जाय तो भारतवर्ष में सामाजिक उपासना जैसी कोई चीज ही नहीं है। मन्दिर बहुधा धनी लोगों द्वारा ही एक धार्मिक सत्कृत्य की दृष्टि से बनवाये जाते हैं। यदि किसी मनुष्य के पास बहुतसा धन होता है तो वह एक मन्दिर बनवाने की इच्छा करता है। उस मन्दिर में वह ईश्वर का कोई प्रतीक अथवा ईश्वरावतार की कोई मूर्ति स्थापित करता है और ईश्वर के नाम पर पूजा करने के लिए उस मन्दिर को खोल देता है। यह पूजा बहुत-कुछ रोमन-

कैथलिक गिर्जाघरों की 'मास' नामक पूजा के समान होती है जहाँ पवित्र धार्मिक ग्रन्थों से कुछ वाक्य पढ़े जाते हैं तथा मूर्ति के सामने आरती की जाती है और मूर्ति की उसी प्रकार प्रतिष्ठा होती है जैसे महान् पुरुष की। मन्दिरों में केवल इतना ही होता है। यह आवश्यक नहीं है कि मन्दिरों में जानेवाला कोई पुरुष मन्दिर में जाने के कारण ही किसी दूसरे मन्दिर में न जानेवाले पुरुष की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ समझा जाय। वास्तव में बात तो यह है कि पहले की अपेक्षा दूसरा अधिक धार्मिक समझा जाता है, क्योंकि भारतवर्ष में धर्म प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तिगत कार्य है। भारतवर्ष में प्रत्येक मनुष्य के घर में या तो एक छोटासा देवघर होता है अथवा कहीं एक ओर एक स्वतन्त्र कमरा होता है, जहाँ वह व्यक्ति सायं-प्रातः जाता है और एक कोने में बैठकर स्वयं की आध्यात्मिक उन्नति के लिए ध्यान-पूजा करता है। यह पूजा पूर्ण रूप से मानसिक ही होती है, क्योंकि दूसरा मनुष्य इसके बारे में न सुन सकता है और न जान ही सकता है। वह केवल उस पुरुष को वहाँ बैठा हुआ ही देखता है और शायद एक विशेष रूप से अपनी उँगलियां चलाते हुए तथा अपने नथुने बन्द कर एक विशेष प्रकार से साँस लेते देखता है। इसके अतिरिक्त वह नहीं जानता है कि वह मनुष्य क्या कर रहा है, यहाँ तक कि शायद उस पुरुष की स्त्री भी कुछ नहीं जान सकती। इस प्रकार सारा ध्यान-पूजन उसके घर में ही एकान्त में होता है। जो मनुष्य अपना देवघर नहीं बना सकते हैं, वे एक नदी या झील के किनारे अथवा यदि वे समुद्र के समीप रहते हैं, तो समुद्र के किनारे ही ध्यान-पूजन करने के लिए चले जाते हैं। कुछ

लोग कभी कभी किसी मन्दिर में भी प्रणाम, पूजा आदि करने के लिए जाते हैं। हमारे देश में बहुत प्राचीन समय से मनु के कथनानुसार किसी मन्दिर में पुरोहिती करना एक हीन व्यापार समझा जाता है। कुछ ग्रन्थों का यह भी मत है कि यह कार्य इतना नीचे दर्जे का होता है कि इसके कारण एक ब्राह्मण निन्दनीय भी हो सकता है। जैसे शिक्षा के सम्बध में पैसा लेना दोषास्पद माना जाता है, उसी प्रकार उससे कहीं अधिक परिमाण में धार्मिक सम्बन्ध में पैसा लेना दूषित है, क्योंकि मन्दिर के पुरोहित जब पैसा लेकर कार्य करते हैं, तब वे इस पवित्र कार्य को बाजारी वस्तुओं के क्रयविक्रय का रूप दे देते हैं। अतः तुम उस बालक के उस समय के हार्दिक भावों का अनुमान कर सकते हो कि जब निर्धनता के कारण जीविका के लिए उसे पुजारी-पद ग्रहण करना पड़ा था, क्योंकि उसको केवल यही कार्य आसानी से प्राप्य था।

बंगाल में ऐसे बहुतसे कवि हो गये हैं, जिनके पद पीढ़ी दर पीढ़ी गाये जाते हैं। उनका गान कलकत्ते की गलियों तथा प्रत्येक गाँव में होता है। इनमें से अधिकतर गीत धार्मिक हैं और इनका मुख्य भाव जो कि भारतवर्ष के सब धर्मों की विशेषता है, ईश्वर-प्राप्ति है। भारतवर्ष में कोई धार्मिक ग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसमें ये भाव प्रमुख न हों। मनुष्य को ईश्वर प्राप्त करना चाहिए, ईश्वर का अनुभव करना चाहिए, ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहिए, तथा उससे बातचीत करनी चाहिए—यही धर्म है। भारतवर्ष में जहाँ-तहाँ बहुतसे ऐसे साधु-सन्तों के प्रकरण मिलते हैं जिन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ है। इसी प्रकार के उच्च तत्त्व उनके धर्म के आधार हैं और ये सब प्राचीन ग्रन्थादि उन महापुरुषों के हैं जिन्हें आध्यात्मिक सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है। ये पुस्तकें कोरे

बुद्धिमानों के लिए नहीं लिखी गयी हैं और न तर्क की वहाँ तक पहुँच ही है, क्योंकि ये पुस्तकें ऐसे महापुरुषों द्वारा लिखी गयी थीं जिन्होंने उन बातों का प्रत्यक्ष अनुभव किया था; और ये सब बातें केवल उन्हीं पुरुषों द्वारा समझी जा सकती हैं जो उस आध्यात्मिक उच्च अवस्था को पहुँच गये हैं। इन ग्रन्थकारों का कहना है कि इसी जीवन में ईश्वर प्राप्त हो सकता है और वह भी प्रत्येक मनुष्य को, और इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक मनुष्य में एक प्रकार की शक्ति है और इस शक्ति का विकास होने पर धर्म का आरम्भ होता है। सब धर्मों का यही एक केन्द्रीय भाव है। यही कारण है कि कभी कभी हम किसी ऐसे मनुष्य को पाते हैं जो असाधारण वक्तृत्व-शक्ति तथा सुन्दर तर्कशास्त्र की योग्यता रखते हुए उच्चतम तत्त्वों का प्रचार करता है, परन्तु फिर भी उसको श्रोतागण ही नहीं मिलते। परन्तु दूसरी ओर हम यह देखते हैं कि एक अत्यन्त सामान्य मनुष्य, जो शायद अपनी मातृभाषा भी कठिनता से बोल सकता है, अपने ही जीवनकाल में लगभग आधे राष्ट्र के लिए देवतातुल्य पूजनीय हो जाता है। जब भारतवर्ष में किसी प्रकार से यह बात दूर तक फैल जाती है कि अमुक मनुष्य को आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है, उसे धार्मिक सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है तथा उसके लिए धर्म और आत्मा का अमरत्व और ईश्वर आदि विषय जटिल नहीं रह गये हैं, तो तमाम स्थानों से लोग उसके दर्शन करने आते हैं और धीरे धीरे उसकी देवता के समान पूजा करने लगते हैं।

जिस मन्दिर में यह बालक पूजा करता था, उसमें आनन्दमयी जगन्माता की एक मूर्ति थी। इस बालक को सायंप्रातः पूजा करनी पड़ती थी और धीरे धीरे उसके मन में इस विचार

ने अधिकार जमा लिया कि "क्या इस मूर्ति में किसी का वास है? क्या यह सत्य है कि इस संसार में आनन्दमयी जगन्माता हैं? क्या यह सत्य है कि इस विश्व का सारा व्यवहार वे चलाती हैं? अथवा यह सब स्वप्नवत् ही है? क्या धर्म में वास्तव में सत्यता है?" इस प्रकार के तर्क-वितर्क हिन्दू बालक के मन में उठते हैं। इस प्रकार का सन्देह कि 'जो कुछ मैं कर रहा हूँ क्या वह वास्तव में सच है?'—हमारे देश का विशेषत्व है; साथ ही साथ परमेश्वर-सम्बन्धी तथा आत्मासम्बन्धी कल्पनाओं से हम सन्तुष्ट नहीं होते, यद्यपि इस प्रकार की कल्पनाएँ हमारे सामने सदैव रहती हैं। केवल ग्रन्थों तथा कोरे मत-प्रतिपादन से हमें कभी सन्तोष नहीं होता, परन्तु धर्म की प्रत्यक्ष उपलब्धि ही हमारा एकमात्र लक्ष्य है। प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर का अस्तित्व सत्य है, और यदि है तो क्या उसे मैं देख सकता हूँ? क्या मुझे सत्य की प्रत्यक्ष उपलब्धि हो सकती है? पाश्चात्य को ये सब बातें शायद अव्यवहार्य न जँचें, परन्तु हम लोगों के लिए तो ये नितान्त क्रियात्मक हैं, और इसके निमित्त हम अपना जीवन भी समर्पण करने को तैयार हैं। आप लोगों ने अभी सुना है कि अतीत काल से ही भारत में ऐसे अनेक महापुरुष हो गये हैं जिन्होंने इस आदर्श के लिए अपने सब सुख-साज का त्याग कर दिया और जो जाकर गुफाओं में रहने लगे; सैकड़ों ने अपना घर-द्वार छोड़ दिया और पवित्र नदियों के किनारे अनेकों यातनाएँ सहीं। ये सब कष्ट केवल उस आदर्श की अनुभूति के लिए ही थे। यह सब उन्होंने न तो केवल साधारण ज्ञान के लिए किया, न बौद्धिक ज्ञान के लिए, न तत्त्ववस्तु की तर्कपूर्ण जानकारी के लिए और न अँधेरे में टटोलबाजी के लिए ही, वरन् इस बात के लिए कि हमें अपनी

इन्द्रियों द्वारा यह संसार जितना प्रत्यक्ष प्रतीत होता है उससे कहीं अधिक प्रत्यक्ष हमें सत्य का अनुभव हो जाय। मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि केवल यही एक भाव था जिसका असर उनके मन पर अति प्रबल रूप से पड़ा था। ध्येय-साधन के लिए हमारे देश में हजारों मनुष्य देह त्याग चुके थे और हजारों तैयार थे। अतः इसी एक भाव के हेतु हजारों वर्षों से सारे राष्ट्र ने प्रचण्ड स्वार्थत्याग किया तथा अपने प्राण अर्पण किये। इसी आदर्श के लिए प्रत्येक वर्ष हजारों हिन्दू गृहत्याग करते हैं और उनमें से बहुतसे उसके निमित्त कठिनाइयाँ सहतेसहते मर तक जाते हैं। पाश्चात्य लोगों को ये सब बातें मृगतृष्णा के समान मालूम पड़ती हैं और इस दृष्टिकोण का कारण भी मैं समझ सकता हूँ; परन्तु यद्यपि मैं पश्चिमी देशों में भी रहा हूँ तो भी मेरा यही विश्वास है कि यह भाव हमारे जीवन में सर्वाधिक सत्य एवं साध्य है।

मैं जितनी देर इस सत्य वस्तु के अतिरिक्त कभी किसी दूसरी बात पर विचार करता हूँ तो मैं यही सोचता हूँ कि मेरा उतना ही नुकसान हुआ है। संसार के अद्भुत विज्ञान-सम्बन्धी आविष्कार भी मेरे लिए हितकर नहीं हैं, क्योंकि मेरी यह भावना है कि जो जो बातें मुझे इस सत्य से दूर हटाती हैं, वे सब मेरे लिए व्यर्थ हैं। चाहे तुम एक देवदूत के समान ज्ञानी हो अथवा एक पशु के समान अज्ञानी हो, प्रत्येक दशा में यह जीवन क्षण-भंगुर है; चाहे तुम एक फटे-पुराने कपड़ोंवाले मनुष्य के समान निर्धन हो अथवा तुम्हारे पास धन-कुबेर की सम्पत्ति हो तो भी जीवन क्षणभंगुर है; चाहे रास्ते में भटकनेवाले किसी साधारण मनुष्य के समान तुम्हारी दुर्दशा हुई हो अथवा तुम लाखों पर राज्य करनेवाले सम्राट हो, परन्तु जीवन क्षणभंगुर ही है; चाहे

तुम अत्यन्त स्वस्थ अथवा दुर्बल से भी दुर्बल हो, तिस पर भी जीवन क्षणभंगुर ही है; और चाहे तुम्हारा स्वभाव अत्यन्त नम्र और शीलवान हो अथवा क्रूर हो, जीवन प्रत्येक दशा में क्षण-भंगुर ही है। हिन्दुओं के अनुसार जीवनसमस्या की एक ही मीमांसा है और वह है ईश्वर तथा धर्म-लाभ। यदि ईश्वर और धर्म को सत्य मान लिया जाय, तभी जीवन का अर्थ स्पष्ट हो जाता है, जीवन निबाहने योग्य तथा आनन्दमय हो जाता है, और नहीं तो वह बोझ के सदृश ही रहता है—यह हमारी दृढ़ धारणा है। तर्क से ईश्वर और धर्म नहीं दर्शाये जा सकते, उससे अधिक से अधिक यही बतलाया जा सकता है कि वे सम्भव हैं। ज्ञान के किसी क्षेत्र के उच्च से उच्च बुद्धिवाद द्वारा किसी वस्तु का अस्तित्व केवल 'सम्भव' ही बतलाया जा सकता है, पर इससे अधिक नहीं। भौतिकशास्त्र द्वारा स्थापित अनेक सिद्धान्त 'सम्भव' ही कहे जा सकते हैं, सत्य नहीं। किसी भी बात की सत्यता उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि पर ही प्रतिष्ठित है। उसी प्रकार धर्म और ईश्वर को सत्य मानने के लिए हमें उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए। स्वयं का अनुभव ही हमें इन बातों की सत्यता सिद्ध करा सकता है—तर्क-वितर्क अथवा अन्य कोई चीज नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव ही हमारे विश्वास को पर्वत के समान दृढ़ बना सकता है। और ऐसी ही मेरी तथा अन्य भारतवासियों की धारणा है।

यही धारणा उस बालक के मन में समा गयी और उसने अपनी सारी जीवनशक्ति इसी भावना पर केन्द्रीभूत कर दी। दिन पर दिन वह रोता और कहता, 'हे जगन्माता! क्या यह सत्य है कि तुम्हारा अस्तित्व है, अथवा यह सब काल्पनिक ही है?'

आनन्दमयी माता वास्तव में है या कवियों की केवल कपोल-कल्पना तथा भटके हुए लोगों का भ्रम ही है ? हम यह देख चुके हैं कि जिसे हम शिक्षा कहते हैं अथवा जिन पुस्तकों को हम पढ़ते हैं, उन सब का ज्ञान इस बालक को नहीं था । इस बालक का मन सहज ही सरल एवं निष्पाप था । उसकी विचारशैली भी बड़ी पवित्र थी और इसका कारण यह था कि दूसरे के विचारों की विज्ञप्ति न होने के कारण उन विचारों का प्रभाव उसके मन पर नहीं पड़ा था । उसने विश्वविद्यालय में प्रवेश नहीं किया था, अतएव वह स्वयं विचार कर सकता था । चूंकि हम लोगों ने अपना आधा जीवन विश्वविद्यालयों में बिता दिया है, अतः हमारा मन दूसरों के विचारों से भर गया है । प्रोफेसर मैक्समुलर के जिस लेख का मैंने अभी वर्णन किया है, उसमें उन्होंने ठीक ही कहा है कि मेरे गुरुदेव का विचार स्वच्छ एवं मौलिक ही रहा था और इसका कारण यह था कि वे विश्वविद्यालय के सम्पर्क में नहीं बड़े हुए थे । धीरे धीरे यह विचार जो उनके मन में सब से प्रबल था कि 'क्या ईश्वर देखा जा सकता है' दृढ़ होने लगा, यहाँ तक कि वे और किसी बात के बारे में सोच ही नहीं सकते थे—यहाँ तक कि वे ठीक तौर से पूजा भी नहीं कर सकते थे और उससे सम्बन्धित अनेक विधियों पर भी ध्यान नहीं दे सकते थे । बहुधा वे जगन्माता की मूर्ति के सम्मुख नैवेद्य रखना भी भूल जाते थे और कभी कभी वे घण्टों आरती ही उतारा करते थे तथा उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ उन्हें विस्मरण हो जाता था !

प्रत्येक समय एक विचार उनके मन में रहा करता था और वह था, 'हे माता ! क्या यह सत्य है कि तुम्हारा अस्तित्व है ? फिर तुम बोलती क्यों नहीं हो ? क्या तुम जीवित नहीं हो ?'

यहाँ पर शायद हममें से कुछ लोग यह स्मरण कर सकेंगे कि हमारे जीवन में कुछ ऐसे अवसर अवश्य आते हैं जब हम नीरस तर्क-वितर्क तथा पुस्तकों को पढ़ते पढ़ते थक जाते हैं—क्योंकि आखिर ये पुस्तकें हमें कुछ अधिक नहीं सिखातीं और इनका पढ़ना भी अफीम खाने के समान केवल मानसिक व्यसन ही हो जाता है। इस प्रकार इन सब बातों से थककर एवं विचलित हो हमारे हृदय से एक हूक निकलती है, 'क्या इस विश्व में कोई ऐसा नहीं है जो हमें प्रकाश दिखा सके ? अतः हे माता ! यदि तुम हो, मुझे प्रकाश दिखाओ । तुम बोलती क्यों नहीं ? तुम ऐसी अप्राप्य क्यों बनती हो ? तुम अपने इतने दूतों को क्यों भेजती हो और स्वयं क्यों नहीं आतीं ? इस कलह-क्लेश एवं पक्ष-विपक्ष के संसार में मैं किसका अनुसरण तथा विश्वास करूँ ? यदि तुम प्रत्येक स्त्री-पुरुष की ईश्वर हो तो तुम स्वयं अपने बच्चे से बोलने क्यों नहीं आती और क्यों नहीं देखती कि वह छटपटाता हुआ तुम्हारे दर्शन करने को उत्सुकतापूर्वक तैयार है या नहीं ?" ऐसे विचार हम सभी के मन में उठते हैं, परन्तु कब?—जब हमें तीव्र मानसिक क्लेश होता है! पर दूसरे ही क्षण हम उन्हें भूल जाते हैं क्योंकि हमारे चारों ओर अनेकों मोहरूपी जाल हैं। कुछ क्षण के लिए हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे लिए स्वर्ग का द्वार खुल जायगा और ऐसा प्रतीत होता है कि हम स्वर्गीय दिव्य प्रकाश में तन्मय हो जायेंगे, परन्तु फिर थोड़ी देर बाद हमारा पाशविक अंश हमें इन दैवी दृश्यों से दूर पटक देता है। हम फिर पशु के समान नीच दशा को पहुँच जाते हैं और खाने, पीने, मरने, जन्म लेने और फिर खाने पीने में व्यस्त हो जाते हैं। परन्तु कुछ असाधारण पुरुष ऐसे होते हैं कि उनके सामने चाहे कितने भी

प्रलोभन क्यों न हों, पर यदि उनका मन एक बार ध्येय की ओर आकर्षित हो गया तो फिर वह मायाजाल द्वारा इतनी सरलता से विचलित नहीं होता, क्योंकि वे सत्यस्वरूप परमेश्वर के दर्शन करने के इच्छुक होते हैं और यह भलीभाँति जानते हैं कि यह जीवन नाशवान है। उनका यही मत रहता है कि उच्च प्रकार की विजयप्राप्ति के लिए यदि मरना हो तो अत्युत्तम है और वास्तव में पाशविक अंश के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने तथा जन्म-मरण के प्रश्न को सुलझा लेने और अच्छे तथा बुरे के बीच में भेद का ज्ञान प्राप्त कर लेने की अपेक्षा और श्रेष्ठ है ही क्या ? अस्तु—

अन्त में उस बालक के लिए उस मन्दिर में काम करना असम्भव हो गया। उसने वह मन्दिर छोड़ दिया और समीपवर्ती एक छोटेसे जंगल में चला गया और वहीं रहने लगा। अपने जीवन की इस अवस्था के सम्बन्ध में मेरे गुरुदेव ने मुझसे कई बार चर्चा की थी और वे यह भी कहते थे कि उन्हें यही ज्ञात नहीं रहता था कि सूर्योदय तथा सूर्यास्त कब हुआ तथा वे किस प्रकार वहाँ रहे। वे अपने स्वयं के बारे में सब विचार भूल गये थे, यहाँ तक कि भोजन करने का भी उन्हें ध्यान नहीं रहता था। इस समय उनके एक सम्बन्धी ने बड़े प्रेमपूर्वक उनकी देखभाल की और वह उनके मुँह में भोजन डाल दिया करता था जो वे केवल निगल लेते थे।

इसी प्रकार इस बालक के कितने ही दिनरात बीत गये। जब एक पूरा दिन बीत जाता था और सन्ध्यासमय मन्दिरों से घण्टियों की झंकार तथा भजनों की गूंज इस बालक को वन में सुनायी देती थी, तो वे बड़े दुःखित हो कलपते हुए यह चिल्लाने

लगते थे, 'हे माता ! आज का भी एक दिन व्यर्थ गया और तूने दर्शन नहीं दिया--इस छोटेसे जीवन का एक दिन और व्यतीत हो गया, परन्तु फिर भी मुझे ईश्वरज्ञान नहीं हुआ ।' इस हार्दिक वेदना के कारण वे कभी कभी अपना मुँह जमीन पर रगड़ डालते और बिलखते बिलखते उनके मुँह से यह प्रार्थना निकल पड़ती थी, 'हे जगन्माता ! तुम शीघ्र प्रकट हो जाओ--देखो मैं तुम्हारे लिए कैसा तड़प रहा हूँ--मुझे और कुछ नहीं चाहिए ।' वास्तव में वे अपने ध्येय में एकनिष्ठ थे । उन्हें यह मालूम था कि जब तक जगन्माता के लिए सर्वस्वत्याग नहीं किया जाता तब तक वे दर्शन नहीं देतीं । यह भी जानते थे कि जगन्माता प्रत्येक को दर्शन देना चाहती हैं, परन्तु लोग ही दर्शन नहीं चाहते--वे तो सर्व प्रकार के आनन्दभोग के ही इच्छुक होते हैं, परन्तु जगन्माता के दर्शन के नहीं, और जिस समय वे पूर्ण तन-मन से उसके लिए छटपटायेंगे और अन्य किसी वस्तु के लिए नहीं, बस उसी समय श्रीजगदम्बा उन्हें अवश्य दर्शन देंगी । अतः वे उस भावना में तद्रूप होने का यत्न करने लगे और उन्होंने ध्येयसाधन के नियमों का भी पूर्ण रूप से पालन करने का निश्चय किया । उनके पास जो कुछ थोड़ी-बहुत सम्पत्ति थी, वह सब उन्होंने छोड़ दी और धन कभी न छूने का प्रण कर लिया । यह विचार कि 'मैं धन कभी नहीं छुऊँगा' उनके शरीर का मानो एक अंश ही हो गया । सम्भव है, यह बात तुम सभी को कुछ गूढ़-सी जान पड़े, परन्तु निद्रावस्था में भी यदि मैं उनके शरीर को किसी सिक्के से छू लेता था तो उनका हाथ ही टेढ़ा हो जाता था और उनका सारा शरीर ऐसा प्रतीत होता था मानो लकवा मार गया हो ! दूसरा विचार जो उनके मन में उत्पन्न हुआ वह यह था कि 'काम-

वासना दूसरा शत्रु है।' मनुष्य वस्तुतः आत्मस्वरूप है और यह आत्मा न तो स्त्री है, न पुरुष। उन्होंने सोचा कि काम तथा कांचन ही ऐसे दो कारण हैं जो जगन्माता के दर्शन नहीं होने देते। सारा विश्व जगन्माता का ही रूप है और वह प्रत्येक नारी के शरीर में वास करती है। प्रत्येक नारी जगन्माता का रूप है, अतः किसी नारी को स्त्री-भाव से मैं कैसे देख सकता हूँ ? यह विचार उनके मन में पूर्ण रूप से जम गया था। प्रत्येक नारी हमारी माता है तथा हमें उस अवस्था में पहुँच जाना चाहिए जब कि प्रत्येक नारी में केवल जगन्माता का ही स्वरूप दिखे; और यह ध्येय उन्होंने अपने जीवन में पूर्ण रूप से निबाहा।

ईश्वरदर्शन-सम्बधी यह छटपटाहट मनुष्य के हृदय को बड़े जोर से पकड़ लेती है। बाद में उन्होंने एक बार मुझसे कहा, "मेरे बच्चे, मान लो एक कमरे में सोने का एक थैला रखा है और उसके पास ही दूसरे कमरे में एक चोर है, तो क्या तुम सोच सकते हो कि उस चोर को नींद आयगी ? नहीं, कदापि नहीं--उसके मन में लगातार यह उथल-पुथल मची रहेगी कि मैं उस कमरे में कैसे पहुँचूं तथा उस सोने को कैसे पाऊँ। इसी प्रकार क्या तुम सोच सकते हो कि जिस मनुष्य की यह दृढ धारणा हो गयी कि इस माया के प्रसार के पीछे एक अविनाशी, अखण्ड, आनन्दमय परमेश्वर है जिसके सामने इन्द्रियों का सुख कुछ भी नहीं है, तो उस परमेश्वर को प्राप्त किये बिना वह मनुष्य चुपचाप बैठ सकता है ? क्या वह अपने प्रयत्न क्षणभर के लिए भी स्थगित कर सकता है ? कदापि नहीं--असह्य छटपटाहट के कारण वह पागल हो जायगा।" बस इसी दैवी विचार में वह बालक तन्मय हो गया। उस समय उसके लिए मार्गप्रदर्शक कोई न था, कोई उससे बातचीत करनेवाला भी न

था और सब यही समझते थे कि वह बालक पागल हो गया है। परन्तु यह जगत् की साधारण गति है। यदि कोई मनुष्य सांसारिक ढोंग आदि का त्याग कर देता है तो लोग उसे पागल कहते हैं, परन्तु ऐसे ही पुरुष समाज को जीवनशक्ति देनेवाली संजीवनी होते हैं। ऐसे ही पागलपन से शक्तियाँ उत्पन्न हुई हैं जिन्होंने इस संसार को हिला दिया है, और ऐसे ही पागलपन से भविष्य में ऐसी शक्तियों का जन्म होगा जो हमारे संसार में उथल-पुथल मचा देंगी।

इस प्रकार सत्यलाभ के लिए उस बालक को छटपटाते अनेक दिन, सप्ताह तथा महीने व्यतीत हो गये। अब उस बालक को विचित्र प्रकार के दर्शन होने लगे, नाना प्रकार के दृश्य दिखने लगे तथा अपने स्वभाव के अनेक रहस्य प्रकट होने लगे। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो एक परदे के बाद दूसरा परदा हटाया जाने लगा हो। प्रत्यक्ष जगन्माता ने ही गुरुस्थान ग्रहण किया और उन्होंने उस बालक को उसके अन्वेषित सत्यप्राप्ति के साधन में दीक्षित किया। इसी समय उस स्थान पर अद्वितीय विद्वत्तावाली एक सुन्दर स्त्री आ पहुँची। इस स्त्री के विषय में मेरे गुरुदेव कहा करते थे कि वह केवल विद्वान् ही नहीं थी, वरन् विद्वत्ता की साक्षात् मूर्ति थी; उसमें मानो ज्ञान स्वयं मानवरूप धारण करके प्रकट हुआ था। इस बात में भी तुम्हें भारतवर्ष का वैशिष्ट्य प्रतीत होगा। साधारणतः हिन्दू स्त्री अशिक्षित होती है, तथा जिस स्थिति को पाश्चात्य देश में परतन्त्रता कहते हैं उसी स्थिति में परमोच्च आध्यात्मिक भाव-सम्पन्न इस स्त्री का आविर्भाव हुआ था। वह एक संन्यासिनी थी, क्योंकि भारतवर्ष में स्त्रियाँ भी संसार त्याग कर देती हैं, अपनी सब सम्पत्ति को तिलांजलि दे देती हैं, विवाह नहीं करतीं तथा अपना सारा जीवन ईश्वरसेवा में ही अर्पण कर देती हैं। यह स्त्री

वहाँ आयी और इस बालक के बारे में जब यह सुना कि वह जंगल में रहता है तो उसने उसके पास जाने तथा उससे भेंट करने की इच्छा प्रकट की। इसी स्त्री से उस बालक को सर्वप्रथम सहायता मिली। फौरन ही यह स्त्री उस बालक के क्लेश का रहस्य ताड़ गयी और उसने कहा, "मेरे बेटे, वह पुरुष धन्य है जिसके ऊपर इस प्रकार का पागलपन आये—वैसे तो सारा संसार ही पागल है; कोई धन के लिए, कोई सुख के लिए, कोई कीर्ति के लिए और कितने ही लोग अन्य सैकड़ों वस्तुओं के लिए, कुछ लोग सोना पाने के लिए, कोई पति के लिए, कोई स्त्री के लिए तथा अन्य छोटी छोटी बातों के लिए अथवा दूसरों पर जुल्म करने के लिए या स्वयं श्रीमान् बनने के लिए, अनेकानेक मूर्खता की बातों के लिए पागल रहते हैं, परन्तु ईश्वर ही के लिए वे पागल नहीं होते। यदि कोई मनुष्य धन के लिए पागल होता है तो वे उसके प्रति सहानुभूति दर्शाते हुए समभाव रखते हैं और उसे ठीक समझते हैं। उनकी यह भावना इसी प्रकार की होती है जैसे एक पागल मनुष्य यह समझता है कि संसार में उसके समान अन्य पागल लोग ही ठीक दिमागवाले हैं। परन्तु यदि कोई मनुष्य ईश्वर के प्रति पागल है तो वे उसे कैसे समझ सकते हैं? वे यह विचार करने लगते हैं कि उसका सिर घूम गया है और कहते हैं कि उससे अलग ही रहना चाहिए। यही कारण है कि वे तुझे पागल कहते हैं; परन्तु तेरा ही पागलपन ठीक है। वह पुरुष धन्य है जो ईश्वरप्रेम के कारण पागल हो—ऐसे मनुष्य बहुत ही थोड़े होते हैं।" यह स्त्री उस बालक के पास कई वर्षों तक रही और उसने उसे भारतवर्ष की विभिन्न धर्मप्रणालियों के साधन सिखलाये, अनेक प्रकार के योगसाधनों की दीक्षा दी और उसमें व्याप्त प्रचण्ड धर्मस्रोत को

नियमित तथा प्रणालिबद्ध कर दिया।

कुछ दिनों के बाद वहाँ एक विद्वान् तथा तत्त्वज्ञानी संन्यासी आये। वे एक असाधारण पुरुष थे और उनका मत था कि जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, वह सब मिथ्या है। वे इस बात में विश्वास नहीं करते थे कि संसार का अस्तित्व वास्तविक है और लोगों को यह प्रमाणित करने के लिए वे कभी छत के नीचे नहीं रहते थे। चाहे घनघोर वर्षा हो अथवा कड़ी धूप, वे सदा खुले में ही रहते थे। ये संन्यासी उस बालक को वेदान्त सिखलाने लगे और शीघ्र ही अत्यन्त आश्चर्यजनक बात जो उन्हें मालूम हुई वह यह थी कि उनका शिष्य कुछ विषयों में अपने गुरु से भी बढ़ा-चढ़ा है। ये संन्यासी उस बालक के साथ कई महीने रहे और उसके बाद उसे संन्यास-मार्ग की दीक्षा देकर उन्होंने प्रस्थान किया।

जब वह बालक मन्दिर का पुजारी था, उस समय उसकी विचित्र प्रकार की पूजा देखकर लोगों को भ्रम हुआ कि इसके मस्तिष्क में कुछ हेर-फ़ार हो गया है, और इसलिए उसके कुटुम्बी उसे घर लिवा ले गये और उसका विवाह एक छोटीसी कन्या से यह सोचकर करा दिया कि शायद इस रीति द्वारा ही इसके विचार फिर पलटकर पूर्ववत् ठीक हो जायें। परन्तु यह बालक विवाह के उपरान्त घर पर न रहकर फिर अपने काम पर वापस आ गया और पूर्ववत् अपने विचारों में अधिकाधिक तन्मय हो गया। कभी कभी हमारे देश में लड़कों का विवाह बचपन में ही हो जाता है और उस सम्बन्ध में उनकी कोई राय नहीं ली जाती। उनके माता-पिता ही उनका विवाह कर देते हैं। यह बात अवश्य है कि ऐसा विवाह सगाई से बहुत भिन्न नहीं होता। विवाह के पश्चात् भी वे अपने माँ-बाप के यहाँ रहते हैं और सच्चा विवाह उस समय

होता है जब लड़की सयानी हो जाती है। उस समय यह रिवाज होता है कि वर वधू के घर जाकर उसे स्वयं अपने साथ लिवा लाता है। परन्तु इस विवाह में मेरे गुरुदेव यह बिलकुल भूल ही गये थे कि उनकी पत्नी भी है। अपने मायके में लड़की ने यह भी सुन रखा था कि उसके पति को धर्मोन्माद हो गया है और उन्हें कुछ लोग पागल भी समझते हैं। उसने ठीक ठीक बात का स्वयं पता लगाने का निश्चय किया और अपने घर से निकल पड़ी और उस स्थान को आयी जहाँ उसका पति था। भारतवर्ष में यदि कोई स्त्री अथवा पुरुष धर्म के लिए अपना जीवन अर्पण कर देता है तो उसके ऊपर किसी प्रकार का दूसरा बन्धन नहीं रह जाता। परन्तु फिर भी जब वह स्त्री अपने पति के सम्मुख आकर खड़ी हो गयी तो मेरे गुरुदेव ने तुरन्त ही अपनी पत्नी का अपने ऊपर जीवनपर्यन्त अधिकार स्वीकार कर लिया। वे अपनी पत्नी के चरणों पर गिर पड़े और कहने लगे, "जगन्माता ने तो मुझे यह दर्शा दिया है कि वह प्रत्येक स्त्री में निवास करती है और इसलिए मैं प्रत्येक स्त्री में उसे ही देखता हूँ। यही एक दृष्टि है जिसमें मैं तुम्हें देख सकता हूँ, परन्तु यदि तुम्हारी इच्छा मुझे संसाररूपी मायाजाल में खींचने की हो, क्योंकि मेरा तुमसे विवाह हो चुका है, तो मैं तुम्हारी सेवा में उपस्थित हूँ।"

वह बालिका अत्यन्त पवित्र तथा उदार हृदय की थी और अपने पति की आकांक्षाएँ जान गयी तथा उनके कार्य के प्रति समभाव प्रकट करने लगी। उसने तुरन्त ही उत्तर दिया, "मेरी यह इच्छा बिलकुल नहीं है कि मैं आपको सांसारिक जीवन में घसीटूँ, परन्तु इतनी इच्छा अवश्य है कि मैं आप ही के समीप रहूँ, आप ही की सेवा करूँ तथा आप ही से धर्ममार्ग के सम्बन्ध में शिक्षा

ग्रहण करूँ।" वह मेरे गुरुदेव की एक प्रधान अनुगत शिष्या हो गयी और साक्षात् ईश्वरज्ञान से उनकी सेवा-पूजा करने लगी। इस प्रकार अपनी धर्मपत्नी की अनुमति से उनका अन्तिम बन्धन भी टूट गया और वे उस पथ पर चलने के लिए स्वतन्त्र हो गये जिसे उन्होंने चुना था।

इसके अनन्तर इन महापुरुष की यह इच्छा हुई कि वे भिन्न भिन्न धर्मों के सत्य स्वरूप को जानें। उस समय तक उन्होंने अपने धर्म को छोड़कर किसी दूसरे धर्म के विषय में कुछ भी नहीं जाना था। उन्होंने यह जानना चाहा कि दूसरे धर्म किस प्रकार के हैं। अत: उन्होंने भिन्न भिन्न धर्मों के गुरुओं का आश्रय लिया। भारतवर्ष में गुरु का अर्थ क्या होता है यह तुम्हें जान लेना चाहिए—गुरु केवल एक किताबी कीड़ा ही नहीं वरन् एक आत्मज्ञानी पुरुष होते हैं, जिन्हें आत्मानन्द का प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका होता है। उन्हें एक मुसलमान साधु मिल गया और वे उसी के साथ रहने लगे और उसने जो जो भक्तिभावात्मक साधनाएँ बतलायीं, उन सब को इन्होंने पूर्ण किया। मेरे गुरुदेव को यह बड़ा आश्चर्य हुआ कि इस धर्म की साधनाएँ भी जब अन्त:करण से की गयीं तो उन्हें उसी लक्ष्य की प्राप्ति हुई जिसे वे पहले ही पा चुके थे। यही अनुभव उन्हें ईसा मसीह के इसाई धर्म के सच्चे अनुष्ठान से भी हुआ। इसी प्रकार जो जो भी अन्य धर्मपन्थ उन्हें मिले, उन सभी को उन्होंने ग्रहण किया और उन सभी की साधनाएँ उन्होंने पूर्ण अन्त:करण से कीं। जैसा जैसा उनसे कहा गया, ठीक वैसा ही उन्होंने किया और प्रत्येक दशा में वे एक ही अनुभव को प्राप्त हुए। इस प्रकार स्वयं अनुभव द्वारा उन्हें यह ज्ञात हुआ कि प्रत्येक धर्म का ध्येय एक ही है और सब धर्म एक ही सत्य की

शिक्षा देते हैं—अन्तर केवल मार्ग तथा विशेष रूप से भाषा में रहता है। वास्तविक रूप से सब पन्थों तथा धर्मों का ध्येय एक ही है। लोग केवल अपने अपने स्वार्थसाधन के लिए लड़ते रहते हैं। वे सत्य के इच्छुक नहीं होते, पर इच्छुक होते हैं केवल अपने अपने सम्प्रदाय के नाम के लिए। सभी धर्म एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं, परन्तु उनमें से एक कहता है "दूसरा सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि उस धर्म का नाम मेरे धर्म के नाम से भिन्न है—अतः दूसरे धर्म के प्रचारकों की बातों पर ध्यान मत दो और यद्यपि वह बहुत-कुछ वही सिखाता है जो मैं कहता हूँ, परन्तु फिर भी वह सत्य नहीं कहता, क्योंकि जो कुछ वह सिखाता है वह मेरे धर्म के नाम से सम्बन्धित नहीं है।"

यह रहस्य मेरे गुरुदेव ने जान लिया और फिर वे परम 'अहंशून्यता' की साधना में संलग्न हो गये, क्योंकि वे यह जान गये थे कि प्रत्येक धर्म का एक मुख्य भाव है और वह यह कि 'मैं कुछ नहीं हूँ—तू ही सब कुछ है'; और वास्तविक रूप से जो यह कहता है बस उसी के हृदय में ईश्वर प्रकाशित होते हैं। यह क्षुद्र अहंभाव जितना ही कम होता है उतनी ही उसमें ईश्वर की अभिव्यक्ति होती है यह सत्य उन्होंने संसार के प्रत्येक धर्म में जान लिया और स्वयं उसका अनुभव करने का निश्चय किया। जैसा कि मैं तुमसे कह चुका हूँ, जब जब कोई साधना करने का विचार उनके मन में आया तब तब उसके सम्बन्ध की सूक्ष्म शाब्दिक विवेचनाओं में न पड़कर वे शीघ्र ही उसके आचरण तथा प्रयत्न में लग जाते थे। हम बहुतसे लोगों को औदार्य, समानता, दूसरों के अधिकार आदि कितने ही सद्विषयों पर बड़ी बड़ी बातें करते

हुए देखते हैं; परन्तु ये सब बातें केवल शाब्दिक ही होती हैं। मैं ऐसा भाग्यशाली था कि मेरे गुरुदेव एक ऐसे महापुरुष मिल गये कि उन्होंने जो कुछ कहा उसे कार्य रूप में परिणत कर प्रत्यक्ष दिखा दिया। उनमें इस बात की अद्‌भुत शक्ति थी कि जिस वस्तु को वे सत्यरूप समझते थे उसको कार्य रूप में परिणत कर डालते थे।

उसी स्थान के समीप एक चण्डाल जाति का कुटुम्ब रहता था। भारतवर्ष में इस जाति की संख्या कई लाख है और इन लोगों की जाति इतनी नीच समझी जाती है कि हमारे कुछ ग्रन्थों का कथन है कि यदि एक ब्राह्मण अपने घर के बाहर प्रातःकाल निकलते ही किसी चण्डाल का मुख देख ले, तो उसे दिनभर व्रत रखना पड़ता है और फिर शुद्ध होने के लिए कुछ मन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता है! कुछ हिन्दू नगर ऐसे हैं कि जब उनमें कोई चण्डाल घुसता है तो उसे अपने सिर पर एक कौए का पंख रख लेना होता है जिससे सब उसे पहचान सकें कि वह चण्डाल है! साथ ही उसे जोर से यह भी चिल्लाना पड़ता है, 'हटो, बचो, सड़क पर एक चण्डाल जा रहा है', और यह देखा जाता है कि लोग उससे ऐसे दूर भागते हैं मानो जादू से भाग रहे हों, क्योंकि यदि वे उसे धोखे से छू भी लें तो उन्हें जाकर अपने कपड़े बदलने पड़ते हैं, स्नान करना पड़ता है तथा अन्य कई बातें करनी पड़ती हैं। चण्डाल भी हजार वर्षों से यह विश्वास करता चला आया है कि जो कुछ वह करता है वह उसे उचित ही है, क्योंकि यदि वह किसी को छू लेगा तो वह मनुष्य अपवित्र हो जायगा। मेरे गुरु-देव मनुष्यमात्र को एक-सा मानते थे और इसीलिए वे किसी भी चण्डाल के यहाँ चले जाते और उससे उसके घर में झाड़-पोंछ करने की आज्ञा माँगते थे। शहर की सड़कों तथा दूसरों के घरों

को साफ करना चण्डाल का स्वयं का कार्य है। वह घर में सामने के दरवाजे से नहीं घुस सकता, परन्तु पीछे के दरवाजे से आता है और जैसे ही वह चला जाता है वैसे ही जिस जिस जगह पर वह चला होता है वह सारी जगह गंगाजल से छिड़ककर पवित्र कर ली जाती है। जन्म से ही ब्राह्मण शुद्ध माना जाता है और चण्डाल अशुद्ध। और आश्चर्य यही है कि मेरे गुरुदेव ने ब्राह्मण होते हुए भी चण्डाल के ही घर में दासकर्म करने की आज्ञा माँगी। वास्तव में चण्डाल ने उन्हें वह कार्य करने की आज्ञा नहीं दी, क्योंकि वे सब जानते थे कि किसी ब्राह्मण को ऐसा नीच कर्म करने की आज्ञा देना बड़ा भारी पाप होगा तथा फलस्वरूप वे सब के सब नष्ट हो जायँगे। अतः चण्डाल ने उन्हें वह कार्य नहीं करने दिया। परन्तु आधी रात को जब चण्डाल के घर के सब लोग सोते रहते थे तो श्रीरामकृष्ण घर में घुस जाते थे। उनके बड़े बड़े बाल थे और अपने बालों से ही वे सारी जगह झाड़ डालते और यह कहते जाते थे, "हे जगन्माता, मुझे चण्डाल का दास बना दो और मुझे यह अनुभव कर लेने दो कि मैं उससे भी हीन हूँ।" हिन्दू धर्मशास्त्रों की यह शिक्षा है कि "मेरे भक्तों का जो भक्त है वह मुझे अत्यन्त प्रिय है--वे सब मेरे ही बच्चे हैं और उनकी सेवा करना महाभाग्य है।"

आत्मशुद्धि के लिए इसी प्रकार की उनकी अनेक अन्य साधनाएँ भी थीं—उन सब का वर्णन करने में बहुत समय लगेगा। मैं उनके जीवन को तुम्हारे सामने केवल संक्षेप रूप से रखना चाहता हूँ। इसी प्रकार कई वर्षों तक उन्होंने अपने मन को शिक्षा दी। उनकी कई साधनाओं में से एक साधना स्त्री-पुरुष के भेदभाव को समूल नष्ट कर देने की भी थी। स्त्री-पुरुष का भेद केवल शरीर

में ही है, आत्मा में नहीं; और जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहता है वह यह भेदभाव कभी नहीं मान सकता। यद्यपि हमारे गुरुदेव ने पुरुष-शरीर में जन्म लिया था परन्तु फिर भी सभी विषयों में वे स्त्रीभाव लाने की चेष्टा करने लगे। वे यह सोचने लगे कि वे स्वयं पुरुष नहीं, बल्कि स्त्री हैं, अतः स्त्रियों के समान ही कपड़े पहनने लगे, उन्हीं के समान बोलने लगे तथा पुरुषों के सब कार्य छोड़कर सुशील कुटुम्ब की स्त्रियों के बीच में जाकर रहने लगे। इस प्रकार की नियमित साधना के बाद उनके मन का स्वरूप पलट गया तथा वे स्त्री-पुरुष के भेद की कल्पना बिलकुल भूल गये और इस प्रकार जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण बिलकुल बदल गया।

पाश्चात्य देश में प्रायः हम नारीपूजन के विषय में सुनते हैं, परन्तु यह पूजन बहुधा नारी के तारुण्य तथा लावण्य के कारण ही होता है। परन्तु मेरे गुरुदेव के स्त्रीपूजन का भाव यह था कि प्रत्येक स्त्री में जगन्माता का निवास है और इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। मैंने प्रत्यक्ष देखा है कि मेरे गुरुदेव उन स्त्रियों के चरणों पर गिर पड़ते थे जिन्हें समाज तिरस्कृत करता है, और उन स्त्रियों से भी रोते रोते यही पुकारते थे, "हे जगन्माता, एक स्वरूप में तुम सड़कों पर घूमती हो और दूसरे स्वरूप में तुम जगद्व्यापिनी हो। हे जगदम्बे, हे माता, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।" सोचकर देखो, उनका जीवन कितना धन्य है जिनका पशुभाव सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है, जो प्रत्येक रमणी का भक्तिभाव से दर्शन कर रहे हैं तथा जिनके निकट प्रत्येक नारी के मुख ने एक ऐसा रूप धारण कर लिया है जिसमें साक्षात् उसी आनन्दमयी भगवती जगद्धात्री का मुख ही प्रतिबिम्बित हो रहा

है। हमारी दृष्टि भी इसी प्रकार की होनी चाहिए। स्त्री में जो ईश्वरत्व वास करता है उसे हम कभी ठग नहीं सकते। यह न कभी ठगा गया है, न ठगा जायगा। यह सदैव अपना प्रभाव जमा लेता है तथा सदैव ही अचूक रूप से बेईमानी तथा ढोंग को पहचान लेता है और सत्य के तेज, आध्यात्मिकता के आलोक तथा पवित्रता की शक्ति का इसे अवश्य ही पता चल जाता है। यदि हम प्रकृत धर्मलाभ करना चाहते हैं तो इस प्रकार की शुद्धता अत्यन्त आवश्यक है।

मेरे गुरुदेव के जीवन में इसी प्रकार की प्रखर तथा विशुद्ध पवित्रता आ गयी और सामान्य मनुष्य के जीवन में जो नाना प्रकार के द्वन्द्व होते हैं वे उनके लिए सब नष्ट हो गये। अपना तीन-चतुर्थांश जीवन व्यतीत करके उन्होंने कड़ी तपस्याओं द्वारा जो आध्यात्मिक सम्पत्ति एकत्रित की थी वह अब मानवजाति में बिखर जाने के लिए तैयार हो गयी थी और उसके पश्चात् उन्होंने अपना जगत् का प्रचारकार्य आरम्भ किया। उनकी शिक्षा तथा उनके उपदेश कुछ विलक्षण प्रकार के थे। हमारे देश में सब से अधिक आदर तथा सम्मान गुरु को मिलता है तथा हमारी ऐसी श्रद्धा रहती है कि गुरु साक्षात् ईश्वर ही हैं। उतनी श्रद्धा हमें अपने माता-पिता के लिए भी नहीं होती। माता-पिता तो हमें केवल जन्म ही देते हैं; परन्तु गुरु तो हमें मुक्तिमार्ग दिखाते हैं। हम गुरु की सन्तान हैं—उनके मानसपुत्र हैं। किसी असाधारण महापुरुष के दर्शन करने को हजारों हिन्दू आते हैं और वे उसके चारों ओर भीड़ लगा लेते हैं। मेरे गुरुदेव एक ऐसे ही महापुरुष थे, परन्तु मेरे गुरुदेव को यह ध्यान ही नहीं था कि उनको मान-प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए अथवा नहीं। उन्हें इस बात का रंच भर भी भास

नहीं था कि वे एक बड़े गुरु हैं। उनको तो यही ध्यान था कि जो कुछ हो रहा वह सब माता ही करा रही हैं तथा वे स्वयं कुछ नहीं कर रहे हैं। वे सदैव यही कहा करते थे कि यदि मेरे मुँह से कोई अच्छी बात निकलती है तो वे जगन्माता के ही शब्द होते हैं—मैं स्वयं कुछ नहीं कहता। अपने प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में उनका यही विचार रहा करता था और महासमाधि के समय तक उनका यही विचार स्थिर रहा। मेरे गुरुदेव किसी को ढूंढ़ने नहीं गये। उनका सिद्धान्त यह था कि मनुष्य को प्रथम चरित्रवान् होना चाहिए तथा आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए और उसके बाद फल स्वयं ही मिल जाता है। वे बहुधा एक दृष्टान्त दिया करते थे कि 'जब कमल खिलता है तो मधुमक्खियाँ स्वयं ही उसके पास मधु लेने के लिए आ जाती हैं—इसी प्रकार जब तुम्हारा चरित्ररूपी पंकज पूर्ण रूप से खिल जायगा और जब तुम आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लोगे, तब देखोगे कि फल तुम्हें अपने आप ही प्राप्त हो जायँगे और शत-शत मनुष्य तुमसे शिक्षा ग्रहण करने आप ही आप आ जायँगे।' हम सब लोगों के लिए यह एक बहुत बड़ी शिक्षा है। मेरे गुरुदेव ने यह शिक्षा मुझे सैकड़ों बार दी, परन्तु फिर भी मैं इसे प्रायः भूल जाता हूँ। विचारों की अद्भुत शक्ति को बहुत थोड़े लोग समझ पाते हैं। यदि कोई मनुष्य किसी गुफा के अन्दर चला जाता है और उसमें अपने को बन्द कर किसी एक गहन तथा उदात्त विषय पर एकान्त में निरन्तर एकाग्रचित्त हो मनन करता रहता है और उसी दशा में आजन्म मनन करता हुआ अपने प्राण भी त्याग देता है तो उसके उसी विचार की तरंगें गुफा की दीवालों को भेदकर चारों ओर के वातावरण में फैल जाती हैं और अन्त में वे तरंगें सारी मनुष्यजाति में प्रवेश कर

जाती हैं। विचारों की यही अद्भुत शक्ति है। अतः अपने विचारों का दूसरों में प्रचार करने के लिए जल्दी नहीं करनी चाहिए। हमें पहले इस योग्य बन जाना चाहिए कि हम दूसरों को कुछ दे सकें। मनुष्य में ज्ञान का प्रसार केवल वही कर सकता है जिसके पास देने को कुछ हो, क्योंकि शिक्षा देना केवल शाब्दिक व्यवहार नहीं है और न यह अपने मतों को दूसरों के सम्मुख रखना ही है—इसका अर्थ है भावसंचार। जैसे मैं तुम्हें एक फूल दे सकता हूँ उसी प्रकार उससे भी अधिकतर प्रत्यक्ष रूप से धर्म भी दिया जा सकता है। और यह बात अक्षरशः सत्य है। यह भाव भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से ही विद्यमान है और पाश्चात्य देशों में जो 'ईश्वरदूतों की गुरुशिष्य-परम्परा' (Apostolic Succession) मत प्रचलित है, उसमें भी इसी भाव का दृष्टान्त पाया जाता है। अतः प्रथम हमें चरित्रवान् होना चाहिए और यही सब से बड़ा कर्तव्य है जो हमारे सामने है। सत्य का ज्ञान पहले स्वयं को होना चाहिए और उसके बाद उसे तुम अनेकों को सिखा सकते हो, बल्कि वे लोग स्वयं उसे सीखने आयेंगे। यही मेरे गुरुदेव की शैली थी। उन्होंने कभी किसी दूसरे पर टीका नहीं की। वर्षों मैं उनके समीप रहा, परन्तु उनके मुँह से कभी किसी दूसरे धर्मपन्थ के बारे में मैंने बुराई नहीं सुनी। सब धर्मपन्थों पर उनकी समान श्रद्धा थी और उन सब में उन्होंने ऐक्य-भाव ढूंढ़ लिया था। मनुष्य ज्ञानमार्गी, भक्तिमार्गी, योगमार्गी अथवा कर्ममार्गी हो सकता है। विभिन्न धर्मों में इन विभिन्न भावों में से किसी एक भाव का प्राधान्य देखा जाता है। परन्तु यह भी सम्भव हो सकता है कि इन चारों भावों का विकास एक ही मनुष्य में पाया जाय। भविष्य-काल की मानवजाति में यही होनेवाला भी है। यही मेरे गुरु-

देव की धारणा थी। उन्होंने किसी को बुरा नहीं कहा, वरन् सब में अच्छाइयां ही देखीं।

इन अपूर्व महापुरुष के दर्शन तथा इनके उपदेश सुनने के लिए हजारों मनुष्य आते थे और मेरे गुरुदेव गांव की भाषा में ही बोलते थे, परन्तु उनका प्रत्येक शब्द ओजस्वी एवं बोधप्रद होता था। यदि सचमुच देखा जाय तो शब्द एवं भाषा अत्यन्त गौण हैं—वक्ता का व्यक्तित्व ही उनका प्राण है, यही उनमें शक्ति भर देता है। इसका अनुभव हम सभी को कभी कभी होता है। हम बहुधा अत्यन्त उत्कृष्ट तथा तर्क-वितर्कपूर्ण ओजस्वी भाषण सुनते हैं, परन्तु जब हम घर जाते हैं तो सब भूल जाते हैं। पर कभी कभी हम बहुत थोड़ेसे ही शब्द सुनते हैं और वह भी अत्यन्त साधारण भाषा में, लेकिन वे तो हमारे हृदय में ही प्रवेश कर जाते हैं और हमारे जीवन-रस में ही घुलकर हम पर चिरस्थायी प्रभाव डाल देते हैं। जो पुरुष अपने शब्दों में अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डाल सकता है उसके शब्द प्रभावशाली होते हैं। परन्तु बात यह है कि उस मनुष्य का व्यक्तित्व ही असाधारण होना चाहिए। शिक्षण में सदा कुछ देना तथा लेना रहता है—शिक्षक देता है तथा शिष्य ग्रहण करता है, परन्तु शिक्षक के पास कुछ देने को होना चाहिए तथा शिष्य भी निर्मल बुद्धि से उसे ग्रहण करनेयोग्य हो।

मेरे गुरुदेव कलकत्ता शहर के समीप रहने को आये। यह नगर उस समय भारतवर्ष की राजधानी था। यह शहर हमारे देश में शिक्षा का एक प्रधान केन्द्र है जहाँ से प्रतिवर्ष सैकड़ों नास्तिक तथा जड़वादी बाहर निकलते हैं—परन्तु फिर भी यहाँ के ऐसे कितने ही लोग इनके पास आते और इनकी बातें सुनते थे। मैंने भी इन महापुरुष के बारे में सुना और इनके समीप इनके उपदेश

सुनने गया। मेरे गुरुदेव एक अत्यन्त साधारण मनुष्य के समान प्रतीत होते थे तथा उनमें कोई विशेषता नहीं दिखती थी। वे बहुत साधारण भाषा का प्रयोग करते थे। उस समय मुझे आश्चर्य होता था कि 'क्या यह पुरुष वास्तव में महान् ज्ञानी है?' मैं धीरे से उनके पास सरक गया और उनसे वह प्रश्न पूछने लगा जो मैं अन्य सभी से पूछा करता था। मैंने प्रश्न किया, 'महाराज, क्या आप ईश्वर में विश्वास करते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'हाँ'। मैंने कहा, 'क्या आप सिद्ध करके दिखा सकते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'हाँ'। मैंने कहा, 'कैसे?' उन्होंने उत्तर दिया, 'जैसे मैं तुम्हें यहाँ देख रहा हूँ उसी प्रकार से मैं ईश्वर को देखता हूँ—बल्कि उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से।' इस उत्तर से मेरे मन पर उसी समय बड़ा असर पड़ा, क्योंकि जीवन में मुझे प्रथम बार ही यह ऐसा पुरुष मिला जिसने तुरन्त ही यह कह दिया कि मैंने ईश्वर को देखा है तथा जिसने यह भी बताया कि धर्म एक वास्तविक सत्य है, और जिस प्रकार हम अपनी इन्द्रियों द्वारा विश्व का अनुभव करते हैं उससे कहीं अधिक तीव्रता से उसका अनुभव किया जा सकता है। मैं उनके पास दिन-प्रतिदिन जाने लगा और मैंने यह प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया कि धर्म भी दूसरे को 'दिया' जा सकता है, केवल एक ही स्पर्श तथा एक ही दृष्टि में सारा जीवन बदला जा सकता है। मैंने महात्मा बुद्ध, ईसा मसीह तथा मुहम्मद के बारे में एवं पुराणकालीन अन्य महात्माओं के विषय में पढ़ा है। वे किसी भी मनुष्य के सम्मुख खड़े होकर कह देते थे, 'तू पूर्णता को प्राप्त हो जा' और वह मनुष्य उसी क्षण पूर्णता को प्राप्त हो जाता था। यह बात अब मुझे सत्य प्रतीत होने लगी और जब मैंने इन महापुरुष के स्वयं दर्शन कर लिये तो मेरी सारी नास्तिकता

दूर हो गयी । मेरे गुरुदेव कहा करते थे, "इस संसार की किसी ली-दी जानेवाली वस्तु की अपेक्षा धर्म अधिक आसानी से दिया तथा लिया जा सकता है ।" अतः प्रथम स्वयं तुम्हीं आत्मज्ञानी हो जाओ तथा संसार को कुछ देने योग्य बन जाओ और फिर संसार के सम्मुख देने के लिए खड़े होओ । धर्म बात करने की चीज नहीं है, न वह साम्प्रदायिकता है, न मतवादविशेष । धर्म किसी सम्प्रदाय, अथवा संस्था में आबद्ध नहीं रह सकता । यह तो आत्मा के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है । अतएव किसी एक संस्था में बद्ध होकर यह कैसे रह सकता है ? ऐसा होने से धर्म तो व्यवसाय ही हो जायगा और धर्म जब व्यवसाय बन जाता है तब धर्म का लोप हो जाता है । मन्दिर तथा गिर्जाघर बनवा देने तथा सामुदायिक पूजा में उपस्थित हो जाने का नाम धर्म नहीं है । यह पुस्तकों में, शब्दों में, व्याख्यानों में, अथवा संस्थाओं में नहीं रहता । यह आत्मसाक्षात्कार में ही है । वास्तव में हम सब जानते हैं कि जब तक हमको स्वयं सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक हमारा समाधान नहीं होता । हम चाहे जितना वाद-विवाद क्यों न करें तथा चाहे जितना सुनें, परन्तु हमें एक ही चीज से सन्तोष होगा और वह है स्वयं प्राप्त किया हुआ आत्मज्ञान; और यह अनुभव प्रत्येक को प्राप्त होना सम्भव है यदि उसके लिए यत्न किया जाय । आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए सब से पहले त्याग की आवश्यकता है । जहाँ तक हो सके हमें त्याग करना चाहिए । अन्धकार तथा प्रकाश, विषयानन्द तथा ब्रह्मानन्द ये दोनों कभी साथ साथ नहीं रह सकते । 'ईश्वर तथा शैतान की सेवा एक साथ कभी नहीं की जा सकती ।' यदि लोग चाहते हों तो उन्हें यत्न कर देखने दो । प्रत्येक देश में मैंने ऐसे बहुतसे पुरुष देखे हैं जो

दोनों वस्तुएँ एक साथ पाने का यत्न करते हैं, परन्तु अन्त में उनके हाथ कुछ भी नहीं लगता। सत्य तो यही है कि ईश्वर के लिए प्रत्येक वस्तु का त्याग करना पड़ेगा। यह कार्य बड़े प्रयास का है और जल्दी नहीं हो सकता, परन्तु तुम इसे इसी घड़ी आरम्भ कर सकते हो। धीरे धीरे हमें त्याग करते हुए ध्येय की प्राप्ति करनी ही होगी।

दूसरा एक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा आश्चर्यजनक सत्य जो मैंने अपने गुरुदेव से सीखा, वह यह है कि संसार में जितने धर्म हैं वे कोई परस्परविरोधी एवं वैरभावात्मक नहीं हैं—वे केवल एक ही चिरन्तन शाश्वत धर्म के भिन्न भिन्न भाव मात्र हैं। यही एक सनातन धर्म चिरकाल से समग्र विश्व का आधारस्वरूप रहा है और चिरकाल तक रहेगा, और यही धर्म विभिन्न देशों में, विभिन्न भावों में प्रकाशित हो रहा है। मेरा धर्म अथवा तुम्हारा धर्म, मेरा राष्ट्रीय धर्म तथा तुम्हारा राष्ट्रीय धर्म अथवा नाना प्रकार के अलग अलग धर्म आदि विषय वास्तव में कभी नहीं थे। संसार में केवल एक ही धर्म है। अनन्तकाल से केवल एक ही सनातन धर्म चला आ रहा है और सदा वही रहेगा और यही एक धर्म भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न रीति से प्रकट होता है। अतएव हमें सब धर्मों को मान देना चाहिए और जहाँ तक हो सके उनके तत्त्वों में अपना विश्वास रखना चाहिए। धर्म केवल विभिन्न जाति या विभिन्न देशके अनुसार विभिन्न होता हो ऐसी बात नहीं, वरन् पात्र के अनुसार भी वह विभिन्न भाव धारण करता है। किसी मनुष्य में धर्म तीव्र कर्मशीलता के रूप में प्रकट होता है, किसी दूसरे में उत्कट भक्ति के रूप में, किसी तीसरे में योग के रूप में तथा किसी अन्य में तत्त्वज्ञान के रूप

में। हम बड़ी भूल करते हैं यदि धर्म के विषय में हम किसी से कहते हैं कि तुम्हारा मार्ग ठीक नहीं है। शायद एक मनुष्य जो भक्त है यह सोचेगा कि जो मनुष्य कर्ममार्गी है यह उचित धर्म-मार्ग पर नहीं चलता, क्योंकि वह भक्ति का मार्ग नहीं है। यदि कोई तत्त्वज्ञानी ऐसा सोचता हो कि 'ये बेचारे लोग कितने अज्ञानी हैं, ये प्रेममय परमेश्वर के विषय में तथा उसे प्रेम करने के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते; वे क्या कर रहे हैं यही उन्हें ज्ञात नहीं है', तो यह उन तत्त्वज्ञानियों की भूल है, क्योंकि हो सकता है कि वे दोनों ही ठीक मार्ग पर हों। हम सभी को यह केन्द्रीय रहस्य समझ लेना चाहिए कि सत्य केवल एक है और यह भिन्न भिन्न प्रकार से प्रकट हो सकता है तथा भिन्न भिन्न दृष्टि-कोणों से इसका भिन्न भिन्न स्वरूप दिख सकता है। यह समझ लेने पर भिन्न भिन्न धर्मों के विषय में वैरभाव को नष्ट कर हम सब आपस में उत्कट सहानुभूति रख सकेंगे। जब तक इस संसार में भिन्न भिन्न प्रकृति के मनुष्य जन्म लेंगे तब तक हमें उसी एक आध्यात्मिक सत्य को विभिन्न ढाँचों में ढालना पड़ेगा और जब हम यह बात समझ लेंगे तभी हम विभिन्नता के होते हुए भी एक दूसरे के प्रति सहानुभूति रखने में समर्थ हो सकेंगे। जिस प्रकार प्रकृति कहने से बहुत्व में एकत्व का बोध होता है, जिस प्रकार व्यावहारिक जगत् में अनन्त भेद हैं, किन्तु इन समस्त भेदों के पीछे अनन्त, अपरिणामी, निरपेक्ष एकत्व विद्यमान है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। व्यष्टि समष्टि की क्षुद्राकार में पुनरावृत्ति मात्र है। ये सब भेद प्रतीत होते हुए भी इनमें शाश्वत एकत्व विराजमान है और इसी एकत्व के ज्ञान का हमें स्वीकार करना चाहिए। सब विचारों में यही

एक ऐसा विचार है जिसकी आज मैं अत्यन्त आवश्यकता समझता हूँ। मैं एक ऐसे देश से आ रहा हूँ जो विभिन्न धर्मसंप्रदायों का एक प्रमुख स्थान है और उस देश में सौभाग्यवश अथवा दुर्भाग्यवश कहिये, प्रत्येक नूतन धर्मवादी अपना अपना अनुयायी भेजना चाहता है। इस देश में रहने से बचपन से ही संसार के भिन्न भिन्न धर्म-पन्थों का मुझे ज्ञान हो गया है; और मैंने यह भी देखा है कि अमेरिका के मारमन्स* नामक प्रचारक भी इस देश में अपने धर्म का प्रचार करने आये! भारतवर्ष ने उन सभी का स्वागत किया। भारतवर्ष ही एक ऐसी भूमि है जहाँ धर्म का प्रचार सरलता से हो सकता है। अन्य किसी देश की अपेक्षा वहाँ कोई भी धर्म शीघ्र ही अपना स्थान जमा लेता है। यदि तुम उस देश में हिन्दुओं को राजनीति सिखाने जाओ तो वहाँ के लोग उसे नहीं समझेंगे, परन्तु यदि वहाँ किसी धर्म का प्रचार करने जाओ, और वह धर्म चाहे जितना विचित्र क्यों न हो, थोड़े ही समय में तुम्हें सैकड़ों अथवा हजारों अनुयायी मिल जायेंगे और शायद अपने जीवनकाल में ही तुम इन अनुयायियों के लिए ईश्वरवत् बन जाओ। मुझे हर्ष है कि भारतवर्ष में ऐसा है, वहाँ हम इसे ही चाहते हैं।

हिन्दुओं में पन्थ अनेक हैं और उनमें से कुछ में तो आपाततः इतना विरोध देखा जाता है कि उनके मिलने की आशा ही नहीं की जा सकती, परन्तु वास्तव में वे सभी एक ही धर्म के विभिन्न

---

* इस सम्प्रदाय को सन् १८३० ई. में युनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका में जोसेफ स्मिथ ने स्थापित किया था। इसके अनुयायियों ने बाइबिल में एक नया अध्याय जोड़ दिया है और वे इस बात का दावा करते हैं कि उनमें कुछ विशेष शक्तियाँ (Occult Powers) हैं। उनमें बहुविवाह-प्रथा भी थी।

प्रकाश मात्र हैं। 'जिस प्रकार भिन्न भिन्न नदियाँ विभिन्न पर्वतों से निकलकर टेढ़ीमेढ़ी या सीधी बहकर अन्त में आकर एक ही समुद्र में विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार भिन्न भिन्न दृष्टिकोणोंवाले भिन्न भिन्न धर्मपन्थ अन्त में तुम्हीं में मिल जाते हैं।' * यह केवल शाब्दिक तत्त्वज्ञान नहीं है वरन् यह एक ऐसा सत्य है जो हम सभी को मान्य होना चाहिए। परन्तु यह इस प्रकार नहीं माना जाना चाहिए जैसे कुछ लोग अनुग्रहपूर्वक दूसरों के धर्म की कुछ बातें सत्य मानते हैं; उदाहरणार्थ वे कह देते हैं—हाँ हाँ, इनमें कुछ बातें बड़ी अच्छी हैं। इन धर्मों में कुछ न कुछ अच्छी बातें रहती ही हैं, आदि आदि। कुछ लोगों की बड़ी विलक्षण कल्पना होती है जो बड़ी 'उदार'-सी प्रतीत होती हैं—वे कहते हैं कि अन्य सब धर्म ऐतिहासिक युग के पूर्ववर्ती समय के क्रमविकास के क्षुद्र चिह्नस्वरूप हैं, किन्तु 'केवल हमारे ही धर्म ने सम्पूर्णता प्राप्त की है।' एक मनुष्य कहता है कि मेरा धर्म सब से प्राचीन है अतः सर्वश्रेष्ठ है। दूसरा कहता है कि मेरा धर्म सर्वोत्तम है, क्योंकि वह सब से आधुनिक है। पर हमें यह समझना चाहिए कि मोक्षप्राप्ति की शक्ति प्रत्येक धर्म में समान है। मन्दिर अथवा गिर्जाघर में जो धर्मों का भेदभाव दिखायी देता है वह कुसंस्कार मात्र है। एक ही परमेश्वर सभी की पुकारों को सुननेवाला है और वही एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर इस अति क्षुद्र जीवात्मा की रक्षा तथा मुक्ति का जिम्मेदार है—न तुम, न मैं तथा न अन्य कोई दूसरा पुरुष ही। मैं यह नहीं समझ सकता कि कुछ लोग यह कहते हुए भी कि 'मैं ईश्वर में पूर्ण श्रद्धा रखता हूँ' यह

* "रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥" —शिवमहिम्नःस्तोत्र

भाव रखते हैं कि ईश्वर ने कुछ थोड़ेसे ही लोगों को सब सत्य का ठेका दे दिया है और वे सारी शेष मनुष्यजाति के संरक्षक हैं। इसे तुम 'धर्म' कैसे कह सकते हो? धर्म का अर्थ है आत्मानुभूति, परन्तु केवल कोरी बहस, खोखला विश्वास, अन्धेरे में टटोलबाजी तथा तोते के समान पूर्वजों के शब्दों को दुहराना और ऐसा करने में धर्म समझना, एवं धार्मिक सत्य में से कोई राजनीतिक विषय ढूंढ़ निकालना--यह सब 'धर्म' बिलकुल नहीं है। प्रत्येक पन्थ में यहां तक कि इस्लाम पन्थ में भी जिसे हम अत्यन्त दुराग्रही समझते हैं, हम यही देखते हैं कि जब कभी किसी मनुष्य ने आत्मज्ञान प्राप्त करने का यत्न किया तो उसके मुंह से यही शब्द निकले—'हे ईश्वर, तू ही सब का नाथ है, तू ही सब के हृदय में वास करता है, तू ही सब का मार्गदर्शक है, तू ही सब का गुरु है और तू ही हम सभी की अपेक्षा अनन्त रूप से इस विश्व का रक्षक है।' किसी मनुष्य की श्रद्धा नष्ट करने का प्रयत्न मत करो। यदि हो सके तो उसे जो कुछ अधिक अच्छा हो दे दो, यदि हो सके तो जिस दर्जे पर वह खड़ा हो उसे सहायता देकर ऊपर उठा दो—परन्तु जिस स्थान पर वह था उस जगह पर से उसे नीचे मत गिराओ। सच्चा गुरु वही है जो क्षण भर में ही मानो हजारों विभिन्न व्यक्तियों में अपने को परिणत कर सके। सच्चा गुरु वही है जो विद्यार्थी को सिखाने के लिए विद्यार्थी की ही मनोभूमि के बराबर तुरन्त उतर आये और अपनी आत्मा अपने शिष्य की आत्मा में एकरूप कर सके तथा जो शिष्य की ही दृष्टि से देख सके, उसी के कानों से सुन सके तथा उसी के मस्तिष्क से समझ सके। ऐसा ही गुरु शिक्षा दे सकता है—अन्य दूसरा नहीं। अन्य सब निषेधक, निरुत्साहक तथा संहारक गुरु

कभी भलाई नहीं कर सकते ।

अपने गुरुदेव के सहवास में रहकर मैंने यह जान लिया कि इस जीवन में ही मनुष्य पूर्णावस्था को पहुँच सकता है। उनके मुख से कभी किसी के लिए दुर्वचन नहीं निकले और न उन्होंने कभी किसी में दोष ढूंढ़ा । उनकी आँखें कोई बुरी चीज देख ही नहीं सकती थीं और न उनके मन में कभी बुरे विचार ही प्रवेश कर सकते थे । उन्हें जो कुछ दिखा वह अच्छा ही दिखा । यही महान् पवित्रता तथा महान् त्याग आध्यात्मिक जीवन का रहस्य है । वेदों का कथन है—

"अमरत्व न तो सम्पत्ति से प्राप्त हो सकता है, न सन्तति से—वह तो केवल वैराग्य से ही पाया जा सकता है।* श्री ईसा मसीह का कथन है कि 'जो कुछ तुम्हारे पास है वह सब बेच दो तथा निर्धनों को दे दो और मेरे पीछे पीछे आ जाओ ।' यही भाव सब साधुसन्तों तथा दैवी पुरुषों ने भी प्रकट किया और उसे अपने जीवनकाल में निबाहा है । आध्यात्मिकता बिना त्याग के कैसे प्राप्त हो सकती है ? सभी धर्मभावों की पार्श्वभूमि केवल त्याग ही है और तुम यह सदैव देखोगे कि जैसे जैसे त्याग का भाव क्षीण होता जाता है वैसे वैसे धर्म के क्षेत्र में इन्द्रियों का प्रभाव बढ़ता जाता है और उसी परिमाण में आध्यात्मिकता का ह्रास होता जाता है ।

मेरे गुरुदेव त्याग की साकार मूर्ति थे । हमारे देश में जो पुरुष संन्यासी होता है उसके लिए यह आवश्यक होता है कि वह सारी सांसारिक सम्पत्ति तथा यश का त्याग कर दे और मेरे गुरुदेव ने इस सिद्धान्त का अक्षरशः पालन किया । ऐसे बहुतसे

---

* "न धनेन प्रजया त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः ।"

मनुष्य थे जो अपने को धन्य मानते यदि मेरे गुरुदेव उनसे कोई भेंट ग्रहण कर लेते और यदि वे स्वीकार करते तो वे मनुष्य उन्हें हजारों रुपये दे देते, परन्तु मेरे गुरुदेव ऐसे ही लोगों से दूर भागते थे। काम-कांचन पर उन्होंने पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी और इस बात के वे प्रत्यक्ष उदाहरण भी थे। वे इन दोनों बातों की कल्पना के भी परे थे और इस शताब्दी के लिए ऐसे ही महापुरुषों की आवश्यकता है; आजकल के दिनों में ऐसे ही त्याग की आवश्यकता है; विशेषकर जब लोग यह समझते हैं कि उन चीजों के बिना वे एक मास भी जीवित नहीं रह सकते, जिन्हें वे केवल 'आवश्यकताएँ' ही कहते हैं और जिन्हें वे दिन पर दिन अत्यधिक रूप से बढ़ाते जा रहे हैं। आजकल के समय में ही यह आवश्यक है कि कोई एक ऐसा मनुष्य उठकर संसार के अविश्वासी पुरुषों को यह दिखा दे कि संसार में आज भी एक ऐसा महापुरुष है जो संसार भर की सम्पत्ति तथा कीर्ति को एक तृण भर भी परवाह नहीं करता—और आज संसार में ऐसे पुरुष हैं भी।

मेरे गुरुदेव के जीवन का दूसरा महान् तत्त्व दूसरों के प्रति अगाध प्रेम था। उनके जीवन का पूर्वार्ध धर्मोपार्जन में लगा रहा तथा उत्तरार्ध उसके वितरण में। किसी धार्मिक प्रचारक अथवा संन्यासी से भेंट करने का ढंग हमारे देश में ऐसा नहीं है जैसा इस देश में है। भारतवर्ष में भिन्न भिन्न प्रश्नों को पूछने के लिए लोग साधुसंन्यासियों के पास जाते हैं और कोई कोई तो सैकड़ों मील से पैदल चलकर एक ही प्रश्न पूछने आते हैं—'महाराज, एक-आध ऐसा शब्द बता दीजिये जिससे मोक्ष मिल जाय।' इस प्रकार वे उनका एक-आध शब्द सुनने के

लिए ही आते हैं। वे बिना आडम्बर के झुण्डों में आते हैं और उस स्थान पर जाते हैं जहाँ वे साधु अधिकतर रहते हैं—जैसे किसी वृक्ष आदि के नीचे—और वहाँ आकर उनसे प्रश्न करते हैं। एक झुण्ड जाने के बाद दूसरा झुण्ड आ जाता है। इस प्रकार यदि कोई पुरुष असामान्य आध्यात्मिकतासम्पन्न हैं तो कभी कभी तो उन्हें रात दिन में थोड़ा भी विश्राम नहीं मिलता। उन्हें लगातार बातचीत करते ही रहना पड़ता है। घण्टों लोग आते रहते हैं और ये महापुरुष उन्हें उपदेश देते रहते हैं।

इस प्रकार आदमियों के झुण्ड के झुण्ड मेरे गुरुदेव के श्रीवचन सुनते आते थे और वे चौबीस घण्टे में से बीस घण्टे तक उनसे बातें करते रहते थे। और वह भी एक दिन की बात नहीं, बल्कि महीनों यही क्रम जारी रहा जिसका फल यह हुआ कि अन्त में उनका शरीर अत्यन्त परिश्रम के कारण टूट गया। उन्हें मानवजाति के प्रति इतना अगाध प्रेम था कि उनके पास कृपालाभार्थ आनेवाले हजारों में से अत्यन्त सामान्य मनुष्य भी उस कृपालाभ से वंचित नहीं रहता था। फलस्वरूप धीरे धीरे उन्हें गले का एक बड़ा भयंकर रोग हो गया, परन्तु फिर भी आग्रह करने पर भी वे इतनी मेहनत करना नहीं छोड़ते थे। जैसे ही वे सुनते कि बाहर आये हुए लोग उनसे मिलने के इच्छुक हैं तो उन्हें अन्दर बुलाये बिना वे नहीं मानते थे और उनके सब प्रश्नों का उत्तर देते थे। जब उन्हें ऐसा करने से रोका जाता था तो वे उत्तर देते थे, 'मैं परवाह नहीं करता। यदि एक भी मनुष्य की सहायता हो सके तो मैं ऐसे हजारों शरीर छोड़ने को तैयार हूँ—एक आदमी की भी सहायता करना अपूर्व पुरुषार्थ है।' उनके लिए विश्राम मानो था ही नहीं। एक बार एक मनुष्य

ने उनसे पूछा, "महाराज, आप बड़े योगी हैं—आप अपना मन थोड़ा अपने शरीर की ओर ही क्यों नहीं लगा देते जिससे आपकी बीमारी ठीक हो जाय?' पहले तो उन्होंने उत्तर नहीं दिया, परन्तु जब वही प्रश्न कई बार पूछा गया तो उन्होंने धीरे से कहा, 'मित्र, मैं समझता था कि तुम ज्ञानी हो, परन्तु तुम भी संसार के अन्य लोगों के समान ही बातें करते हो। यह सारा मन मैंने ईश्वरार्पण कर दिया है तो क्या अब मैं इसे वापस ले लूँ और इसे इस शरीर में लगाऊँ जो आत्मा का केवल पिंजड़ा है?'

इस प्रकार वे लोगों को उपदेश देने लगे, और अन्त में यह खबर फैल गयी कि उनका अन्तकाल समीप आ गया है। तब तो पहले की अपेक्षा कहीं अधिकाधिक झुण्डों में लोग उनके पास आने लगे। तुम यह अनुमान नहीं कर सकते कि भारतवर्ष में ऐसे महान् साधुसन्तों के समीप लोग किस प्रकार जाते हैं—कैसे वे उनके चारों ओर भीड़ जमा कर लेते हैं और उनके जीवनकाल में ही उन्हें देवतास्वरूप पूजते हैं। हजारों उनके पहने हुए वस्त्रों को ही छूने मात्र की प्रतीक्षा करते रहते हैं। दूसरों की आध्यात्मिकता का हृदय से आदर करने से ही मनुष्य में आध्यात्मिकता आ जाती है। मनुष्य जो कुछ हृदय से चाहता है वही उसे मिल जाता है—राष्ट्रों के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। यदि तुम भारतवर्ष में जाकर एक राजनीतिक भाषण दो तो वह चाहे जितना ओजस्वी क्यों न हो, तुम्हें वहाँ बहुत कम श्रोतागण मिलेंगे, परन्तु यदि तुम धर्म का प्रचार करने जाओ, और इसके बारे में केवल शाब्दिक विवेचन ही न करो, वरन् उसे स्वयं अनुभव करो तो सैकड़ों मनुष्य केवल उसे सुनने ही न आयेंगे वरन् तुम्हारे चरण भी स्पर्श करेंगे। जब लोगों ने यह सुना कि वे

महापुरुष सम्भवत: उन्हें शीघ्र ही छोड़कर चले जायेंगे तो वे उनके पास पहले की अपेक्षा और अधिकाधिक संख्या में आने लगे और मेरे गुरुदेव अपने स्वास्थ्य की थोड़ीसी भी चिन्ता न करते हुए उन्हें निरन्तर उपदेश देते रहे। हम लोग भी उन्हें इस बात से रोक न सके। बहुतसे लोग तो बड़ी बड़ी दूर से आते थे और मेरे गुरुदेव जब तक उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं देते थे तब तक विश्राम नहीं करते थे। वे यही कहा करते थे—'जब तक मैं बोल सकता हूँ तब तक मैं उन्हें उपदेश देता रहूँगा।' और उन्होंने अपने कथन को सदा पूरा किया। एक दिन उन्होंने हम सब लोगों से कहा—'मैं आज इस शरीर का त्याग करूँगा' और वेदों के परम पवित्र शब्द ॐ का उच्चारण करते करते वे महासमाधि में प्रवेश कर गये।

उनका सन्देश तथा उनके विचार ऐसे बहुत थोड़े लोगों को ज्ञात थे जो उनका प्रचार कर सकते। अन्य लोगों के अतिरिक्त वे कुछ युवक बालकों को, जो संसार में अपना सब कुछ छोड़ चुके थे तथा उनका कार्य चलाने को तैयार थे, अपने पीछे छोड़ गये। डाँट-डपट द्वारा उनके घरवालों ने उन्हें उस मार्ग से हटाने के लिए भी बहुत प्रयत्न किया, परन्तु मेरे गुरुदेव के असामान्य जीवन द्वारा उनके हृदय में जो स्फूर्ति भर गयी थी उसके कारण वे अचल बने रहे। वर्षों से उस परम मंगल विभूति के सहवास के कारण उन्होंने अपना मार्ग नहीं छोड़ा। ये नवयुवक संन्यासआश्रम के सभी नियमों का प्रतिपालन करने लगे और उसी शहर की गलियों में जिनमें वे पैदा हुए थे, भिक्षाटन करते हुए अपना कार्य करते रहे, यद्यपि उनमें से कई बड़े उच्च घरानों के थे। प्रथम तो उन्हें तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा, परन्तु

उन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा और धीरे धीरे उन महापुरुष के दिव्य सन्देश वे भारतवर्ष में दिन-प्रतिदिन फैलाने लगे, यहाँ तक कि सारा देश मेरे गुरुदेव के उपदेशों से गूँज उठा। बंगाल प्रान्त के एक दूर गाँव में पैदा हुए इन महापुरुष ने जिन्हें पाठशाला में शिक्षा भी नहीं मिली थी, केवल अपने दृढ़ निश्चय से सत्य की उपलब्धि की तथा उसे दूसरों को प्रदान किया, और उसे जीवित रखने के लिए वे कुछ थोड़ेसे ही नवयुवक छोड़ गये।

आज श्रीरामकृष्ण का नाम भारतवर्ष में लाखों पुरुषों को ज्ञात है। इतना ही नहीं, वरन् उस महापुरुष की शक्ति भारतवर्ष के बाहर भी फैल गयी है। और इस संसार में सत्य के सम्बन्ध में अथवा आध्यात्मिक ज्ञान के बारे में यदि मैं कहीं एक शब्द भी कभी बोला हूँ तो उसका सारा श्रेय मेरे गुरुदेव को है--भूलें केवल मेरी हैं।

श्रीरामकृष्ण का सन्देश आधुनिक संसार को यही है--"मतवादों, आचारों, पन्थों तथा गिर्जाघरों एवं मन्दिरों की ही अपेक्षा मत करो। प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो सार वस्तु अर्थात् 'धर्म' विद्यमान है इसकी तुलना में ये सब तुच्छ हैं, और मनुष्य के अन्दर यह भाव जितना ही अधिक अभिव्यक्त होता है, वह उतना ही जगत्कल्याण के लिए सामर्थ्यवान् हो जाता है। प्रथम इसी धर्मधन का उपार्जन करो, किसी में दोष मत ढूंढ़ो, क्योंकि सभी मत, सभी पन्थ अच्छे हैं। अपने जीवन द्वारा यह दिखा दो कि धर्म का अर्थ न तो शब्द होता है, न नाम और न सम्प्रदाय, वरन् इसका अर्थ होता है आध्यात्मिक अनुभूति। जिन्हें अनुभव हुआ है वे ही इसे समझ सकते हैं। जिन्होंने धर्मलाभ कर लिया है वे ही दूसरों में धर्मभाव संचालित कर सकते हैं, वे ही मनुष्य-

जाति के श्रेष्ठ आचार्य हो सकते हैं—केवल वे ही इस संसार में ज्ञानज्योतिरूप शक्ति का संचार कर सकते हैं।"

जिस देश में ऐसे मनुष्य जितने ही अधिक पैदा होंगे वह देश उतनी ही उन्नत अवस्था को पहुँच जायगा और जिस देश में ऐसे मनुष्य बिलकुल नहीं हैं वह नष्ट हो जायगा—वह किसी प्रकार नहीं बच सकता। अतः मेरे गुरुदेव का मानवजाति के लिए यह सन्देश है कि 'प्रथम स्वयं धार्मिक बनो और सत्य की उपलब्धि करो।' वे चाहते थे कि तुम अपने भ्रातृस्वरूप समग्र मानव-जाति के कल्याण के लिए सर्वस्व त्याग दो। उनकी ऐसी इच्छा थी कि भ्रातृप्रेम के विषय में बातचीत बिलकुल न करो, वरन् अपने शब्दों को सिद्ध करके दिखाओ। त्याग तथा प्रत्यक्षानुभूति का समय आ गया है, और इनसे ही तुम जगत् के सभी धर्मों में सामंजस्य देख पाओगे। तब तुम्हें प्रतीत होगा कि आपस में झगड़े की कोई आवश्यकता नहीं है और तभी तुम समग्र मानवजाति की सेवा करने के लिए तैयार हो सकोगे। इस बात को स्पष्ट रूप से दिखा देने के लिए कि सब धर्मों में मूल तत्त्व एक ही है, मेरे गुरुदेव का अवतार हुआ था। अन्य धर्मसंस्थापकों ने स्वतन्त्र धर्मों का उपदेश दिया था और वे धर्म उनके नाम से प्रचलित हैं, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के इन महापुरुष ने स्वयं के लिए कुछ भी दावा नहीं किया। उन्होंने किसी धर्म को धक्का नहीं पहुँचाया, क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया था कि वास्तव में सब धर्म एक ही 'चिरन्तन धर्म' के भिन्न भिन्न स्वरूप हैं।